मन पर विजय

लेखक

स्वामी अच्युतानन्दजी

[illegible]शक का वक्तव्य

[illegible]ी अच्युतानन्दजी के सतत स्वाध्याय तथा [illegible]तक व्यावहारिक ज्ञान का भंडार और मन पर विजय प्राप्त करने का अमोघ मन्त्र रूप है। मन पर जो लोग विजय प्राप्त करना चाहें उन्हें यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए।

इस पुस्तक के प्रस्तुत संस्करण का अधिकांश भाग श्रीयुत सेठ केसरीमलजी अग्रवाल बड़वाह रियासत इन्दौर ने सुपात्रों को बाँटने के लिये ले लिया है और उनकी अनुमति से पुस्तक सत्पात्रों को निम्नलिखित स्थानों से मुफ़्त मिल सकती है। सेठ जी की दानशीलता इस क्षेत्र में स्तुत्य तथा अनुकरणीय है।

१—स्वामी अच्युतानन्दजी
आनन्दाश्रम, नर्मदातट, बड़वाह

२—सेठ केसरीमलजी अग्रवाल
बड़वाह (होल्कर स्टेट)

३—पं० गंगाधर दुबे, धर्मग्रन्थावली
श्रीदुबे निवास, दारागंज, प्रयाग

—प्रकाशक

मन पर विजय

रचयिता

परमहंस-परिव्राजकाचार्य

स्वामी श्री अच्युतानन्दजी

नर्मदातट, बड़वाह

मुद्रक और प्रकाशक

भारतवासी प्रेस, दारागंज—इलाहाबाद

मुद्रक और प्रकाशक
पं० प्रतापनारायण चतुर्वेदी, भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद।

मूल्य १)
सन् १९४७

मध्यभारत में मिलने का पता
सेठ रामरिछपाल केसरीमल अग्रवाल
बड़वाह (होल्कर-स्टेट)

प्राक्कथन

मन यथार्थ में दर्पण के समान है, इसी में आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकता है। यह निश्चल कभी नहीं रहता, सदैव कुछ न कुछ शुभ-अशुभ चिन्तन करता रहता है और आधुनिक संस्कारों में लिप्त रहने के कारण मिथ्या संकल्प ही विशेष होता है। अतः उस मन को अशुभ चिन्तन से हटाकर सन्मार्ग पर लाने के हेतु नर्मदा-तीर-निवासी स्वामी श्री अच्युतानन्दजी ने अनेक शास्त्रों का सारांश संग्रह कर यह

"मन पर विजय"

नामक अत्यन्त मनोहर एवं सरल विवेचनापूर्ण ग्रन्थ लिखकर हिन्दी जगत का बड़ा उपकार किया है।

हमारा विश्वास है कि भावुक पाठकगण इसके अध्ययन से अपने व्यग्र मन पर विजय प्राप्त करने में सफल होंगे।

हमें यह भी आशा है कि पूज्य स्वामीजी अपनी अमृतमयी लेखनी से कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिख कर हम मूढ जीवों का उद्धार करने में सहायक होते रहेंगे।

बड़वाह
बसंत पञ्चमी २००३

केसरीमल अग्रवाल
'साहित्य भूषण'

अध्याय-सूची

मन पर विजय

प्रथम अध्याय

मन से सावधान रहो

प्राणीमात्र दुःखरहित सुख की प्राप्ति की इच्छा सर्वदा करते रहते हैं; किन्तु उस सुख की प्राप्ति आत्मज्ञान से ही हो सकती है और वह आत्मज्ञान मन के निरोध बिना संभव नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि हमें सुख तभी मिल सकता है जब हम मन को रोकने में, उस पर विजय प्राप्त करने में सफल हों।

ज्ञानी लोगों ने मन को महाव्याघ्र कहा है—

मनोनाम महाव्याघ्र विषयारण्य भूमिषु।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः॥

अर्थात् विषय रूपी भयंकर महावन में मनरूपी महाव्याघ्र विचरता है, अतः मोक्ष का इच्छा वाले साधुजनों को वहाँ न जाना चाहिए।

राजा जनक ने मन को चोर कहा है—

प्रवुद्धोऽस्मि, प्रबुद्धोऽस्म दुष्टश्चौरो मयात्मनः।
निहन्याम्येनं मनो नाम मन्सास्मि चिरंहतः॥

अर्थात् मैं जाग उठा, मैं जाग उठा, आत्मा के चुराने वाले

चोर को मैंने देख लिया। इस मन रूप चोर को मैं नष्ट करूँगा, क्योंकि इसने मुझे अति ही कष्ट दिया है।

मन के वशवर्त्ती होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी प्रबल चोर हैं, क्योंकि ये उसे राजा मान कर भृत्यवत् आचरण करती हैं—

वंचिताशेष वित्तै स्तैःइयं लोको विनाशितः।
हा हन्त विषयाकारैः देहस्थेन्द्रिय तस्करैः॥

अर्थात् विषय का आकार ग्रहण करनेवाले चक्षुरादि इन्द्रिय चोरों ने लोगों का आत्मरूपी सर्वस्व चुरा लिया है। हा! बड़ा ही कष्ट है।

इन्द्रियाँ तो चोर हैं ही, साथ ही इनके सहचारी शब्द-स्पर्शादि विषय तो इनसे भी प्रबल चोर हैं—

खला काले काले निशि निशित मोहैकमिहिकाः।
गता लोके लोके विषय शत चौराः सुचतुराः॥
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्ता दिशि दिशि विवेकैक हरणे।
रणे शक्रस्तेषाक इव विदुषः प्रोक्ष्य सुभटाः॥

अर्थात् खल शब्दादि विषय रूपी सैकड़ों चतुर चोर अज्ञान रूपी अँधेरी रात्रि में ज्ञानरूपी प्रकाश के न होने पर संसार में सर्वदा ही सर्व दिशाओं में उद्योग करते हुए विवेक के चुराने में प्रवृत्त रहते हैं, क्योंकि विवेक को चुराने से सर्वस्व चुराना सुगम हो जाता है। इनको युद्ध में जीतने की शक्ति केवल ज्ञानी में है।

इससे स्पष्ट है कि हमारे सब कष्टों का मूल मन ही है—

हृदय बिले कृत कुण्डल उल्वण कलना विषयो मनोभुजगः ।
मन सोऽभ्दयो नाशो मनोनाशो महोदयः ॥

अर्थात् हृदय रूपी बिल में मन रूपी सर्प कुण्डल मार कर बैठा है, वह संकल्परूप तीक्ष्ण विष से युक्त है जो मदान्धता के रूप में प्रकट होकर कष्ट दिया करता है। इसलिए मन का उदय ही नाश है और मन का नाश ही उदय है। शास्त्र में कहा है—

सहस्राङ्कुर शाखाग्र फल पल्लवशालिनः ।
अस्य संसार वृक्षस्य मनोमूलमिति स्थितम् ॥

अर्थात् हजारों दुःख रूपी अंकुर, शाखा, पत्तों, फल-पुष्पादि से भरपूर संसार-वृक्ष का कारण मन ही है। महर्षि का वचन है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात विषयों के भोगने से कामना की शान्ति नहीं होती; घी पा कर जैसे अग्नि की ज्वाला बढ़ती है वैसे ही विषयों के भोग से कामना की वृद्धि होती है।

चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते ।
तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदि गतं क्षयम् ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

अर्थात चित्त के चंचल होने से संसार है और चित्त के निश्चल होने से मोक्ष है। मन ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है, अतः उसका निरोध आवश्यक है।

मन को जीतना बड़ा कठिन है--

अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्ट मतंगजः ।
विजेतुं शक्यते नैव तथा युक्त्या बिना मनः ॥

अर्थात् जैसे दुष्ट हाथी को अंकुश के बिना वश करना असंभव है वैसे ही शास्त्रोक्त युक्तियों के बिना मन पर विजय प्राप्त करना भी कठिन है।

मन के परिवार में अहंकार कुछ कम नहीं है—

अहंकार ग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्र वद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयं प्रभुः ॥

अर्थात् जैसे राहु ग्रह से आच्छादित होने पर चन्द्रमा दिखायी नहीं पड़ता, वैसे ही अहंकार से घिर जाने के कारण आत्मा नहीं भासता। मुक्त होने पर चन्द्रमा और आत्मा दोनों ही पूर्ण और आनन्दमय दिखायी पड़ते हैं। कहा है—

ब्रह्मानन्द निधिर्महान् बलवताऽहंकार घोराहिना—
संवेष्ट्यात्म निरक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाख्य महासिना श्रुतिमताविच्छिद्य शीर्षत्रयम्—
निर्मूल्याहि मिमंनिधिसुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ।

अर्थात् मन ही की तरह अहंकार भी सर्प के समान कुंडली मार कर बैठा है। आत्मज्ञान रूपी तीक्ष्ण तलवार से उसके तीनों मस्तकों को छेदन करके कोई बिरला ही ज्ञानी उस ब्रह्मानन्द रूपी महान निधि को भोगता है।

मन साधारण ग्रह नहीं है। उसकी गणना अतिग्रहों में है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में चक्षुरादि इन्द्रियों को तथा रूप-रसादि को ग्रह तथा अतिग्रह लिखा है—आर्तभाग ऋषि ने याज्ञवल्क्य से पूछा, "हे याज्ञवल्क्य, ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे आर्तभाग, आठ ग्रह हैं और आठ ही अतिग्रह हैं। फिर आर्तभाग ने पूछा, वे कौन कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा— श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना, नासिका, मन, प्राण हाथ, ये आठ इन्द्रिय ग्रह हैं, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, काम, अपान, पकड़ना, ये आठ विषय ही उक्त इन्द्रियों को पकड़ने वाले अतिग्रह हैं। ग्रहशनि राहु मंगलादि को कहते हैं। जैसे शनि आदि ग्रह जीवों को कष्ट देते हैं, वैसे ही मन तथा चक्षुरादि इन्द्रिय रूपी ग्रह भी जीवों को अतीव क्लेश देते हैं, अथवा ग्रह या ग्राह नाम मगरमच्छ का भी है, और तिमिंगलादि महा-मच्छों को अतिग्राह कहते हैं। जैसे समुद्र म पड़े हुए पुरुषों को मगरमच्छ और महा मगरमच्छ महान् कष्ट देते हैं; वैसे ही संसार सागर में पड़े हुए जीवों को इन्द्रिय रूपी मगरमच्छ अतीव पीड़ित करते हैं।

"भूयोभूयोबलिं केचित् पिशाच्यै ददतेऽनिशन् ।
अथापि सापिशाची तान् बाधतेऽनराधिनः ॥

अर्थात् साधु स्वभाव कितनेक भीरु पुरुष यद्यपि पिशाची को संतुष्ट करने के लिए बारबार बलि देते रहते हैं तो भी पिशाची उन बलि देने वाले निरपराध पुरुषों को निरन्तर कष्ट देती ही

रहती है। तात्पर्य यह है कि संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि लात के देवता बात से नहीं मानते, दुःशील, नीच प्रकृति का पिशाच बलि देने से प्रसन्न नहीं होता, किन्तु यंत्र मंत्र तंत्र या उनसे भी अति प्रबल पिशाचों से पीड़ित कराये जाने पर ही पिंड छोड़ता है। इसी प्रकार मनरूपी पिशाच की तृप्ति के लिए भी कुछ उपाय, कुछ साधन ढूँढ़ना चाहिए।

मन न तो विषय भोग में लिप्त होने से शान्त हो सकता है और न बलपूर्वक रोकने से; युक्तियों द्वारा ही उसके मूल का संहार हो सकता है—

एतास्तायुक्तयः पुष्टाः सन्तिचित्तजये किल ।
सतिषु युक्तिष्वेतासु हठाच्च नियमन्ति ये ॥
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्तितमोऽञ्जनैः ।
विमूढ़ाः कर्तु मुद्युक्तायेहठाच्चेतसोजयम् ॥
तेनिबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ।

अर्थात् जो सद्युक्तियाँ निश्चित रूप से मन के जीतने में समर्थ हैं, उनका त्याग करके जो लोग हठ से मन को रोकना चाहते हैं वे दीपक को त्याग करके कज्जल से अन्धकार का नाश करना चाहते हैं, वे कमल के तन्तुओं से मस्त हाथी को बाँधने की चेष्टा करते हैं।

नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हाथ चरणादि कर्मेन्द्रियाँ, उनके गोलक अर्थात् रहने के स्थानों को बन्द करने से ही हठ से रोकी जा सकती हैं। किन्तु मन इस प्रकार नहीं रोका जा

सकता। कारण यह है कि अन्य इन्द्रियों का गोलक बाहर होने के कारण हठात् बन्द किया जा सकता है, किन्तु मन का गोलक शरीर के अन्तर में स्थित हृदय-कमल होने के कारण वह हठात् बन्द नहीं किया जा सकता; वह तो युक्तियों द्वारा ही शान्त किया जा सकता है।

मन को वश में लाना आवश्यक है; उसके बिना आत्मोद्धार सम्भव नहीं है। कारण यह है कि यद्यपि मन नीच-प्रकृति कृतघ्नी हो गया है तथापि आत्मा को मन की सहायता लेनी ही पड़ती है, जैसे कोई लोहार अति ही कार्यकुशल है किन्तु बिना औज़ार के तलवार बन्दूक आदि नहीं बना सकता। यदि औज़ार बिगड़े हुए हों अर्थात् जङ्ग आदि लगकर खराब हो गये हों, तो उनको सुधारने के लिए साफ़ तथा तीक्ष्ण करने के लिए कुछ काल की आवश्यकता होती है; वैसे ही यह आत्मा असङ्ग, शुद्ध, निर्लेप, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है, किन्तु जब वह शरीरेन्द्रियादिकों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध से अज्ञान द्वारा मिथ्या अभिमान के कारण अपने को बद्ध मानने लग गया है तब तो बिना मन रूपी औज़ार की सहायता के इस मिथ्या बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पीछे अनेक बड़े बड़े चोर डाकू लगे हुए हैं; अत: मन और मन के अनेक अनुचर चक्षुरादि इन्द्रियरूपी औज़ारों द्वारा आत्मा अपने को उक्त बन्धन से मुक्त कर सकता है। जन्मजन्मान्तर की वासनाओं से जो मन अशुद्ध और मलिन हो रहा है और उसके

जो अनुचर इन्द्रियादि भी अशिक्षित घोड़ों के समान उत्पथगामी हो रहे हैं, पहिले उनको शिक्षित अर्थात शुद्ध बनाना, सुधारना होगा तभी तो उस शुद्ध मन में ही आत्मा के दर्शन की योग्यता होगी। श्रुति भगवती भी यही कहती है—

"दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः,"

अर्थात् सूक्ष्मदर्शी पुरुष ही शुद्ध और सात्विक तीक्ष्ण मन से आत्मा को देख सकता है।

ऐसी अवस्था में हमारे लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है कि हम मन को शान्त करने के लिए उन युक्तियों की शरण में जायँ जिनकी मीमाँसा शास्त्र ने की है।

आगे के अध्यायों में हम इन्हीं युक्तियों की चर्चा करेंगे।

द्वितीय अध्याय

मन का स्वरूप

जिस शत्रु को हमें वश में लाना है पहले उसके स्वरूप को समझ लेना चाहिए।

यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्मा में जितने रागद्वेषादि अनर्थ भासते हैं उन सब का कारण मन का संकल्प-विकल्प ही है। जाग्रदादि अवस्था में स्थूल शरीर के भीतर क्षत फोड़ा, फुन्सी, ज्वरादि के होने से जो दुःख होता है वह सुषुप्ति काल में, मन के लय हो जाने के कारण नहीं होता। कारण यह

है कि मन जिन संकल्प-विकल्पों द्वारा दुःख देता रहता है, सुषुप्ति-काल में उनका अंत हुआ रहता है।

प्रायः दो ज्ञानों का एक क्षण में युगपद् उत्पन्न न होना ही मन का स्वरूप है, अथवा मन का संकल्प-विकल्पही मन का स्वरूप है। काम-क्रोधादि अनेक प्रकार की कल्पना होने का नाम संकल्प है, उससे विरुद्ध संकल्प के नष्ट होने पर उससे विपरीत दूसरे संकल्प के उत्पन्न होने का नाम विकल्प है अर्थात् संकल्प-संकल्प जिससे उत्पन्न होते हैं वही मन है। वृहदारण्यकोपनिषद्* में काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा इत्यादिकों को मन का स्वरूप या लक्षण कहा है।

प्रश्न—मन प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

उत्तर—मन चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अतः अतीन्द्रिय होने के कारण वह इन्द्रियों को प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु काम क्रोधादिक की उत्पत्ति होने के कारण साक्षी चैतन्य उसे चक्षु के सामने स्पष्ट प्रकाशित कर देता है, जैसे मृत्तिका का बोध प्रत्यक्ष घड़े को देखने से हो जाता है। यह काम-क्रोधादि ही मन का स्वरूप है, अथवा उनका कारण ही मन का स्वरूप है। क्योंकि घट और मृत्तिका के समान कार्य और कारण में कोई भेद नहीं होता। यह भी कहते हैं कि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति मन के दो स्वरूप हैं।

---

*कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव इत्येतल्लक्षणम्।

सुषुप्तिकाल में मन का लय हो जाता है किन्तु उसका एकांश क्रियारूप प्राण तब भी बना रहता है। यदि प्राण को मन से भिन्न मानें तो मन का उक्त लय विरुद्ध नहीं है, और यदि भिन्न न मानें तो प्राणांश को छोड़कर शेष ज्ञानांश के लय की कल्पना करनी ही उचित है; अर्थात् परिणामी होने से मन अंश वाला तथा जड़ पदार्थ है, अतः एकांश का लय हो जाता है और एकांश रह जाता है।

दृष्टिसृष्टिवाद पक्ष में तो सुषुप्ति-काल में दृष्टि के न होने से सुषुप्त पुरुष के प्रति सब का लय ही मुख्य लय सिद्ध है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि मन का उपादान अर्थात् समवायी कारण और निमित्त कारण कौन है?

मन का उपादान कारण त्रिगुणात्मक अनिर्वचनीय माया ही है और माया-विशिष्ट ईश्वर ही उसका निमित्त कारण है।

मन सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों वाला है, इससे सत्व का विकार सुख (ज्ञानादि) रज का विकार दुःख (राग, द्वेष, लोभादि) और तम का विकार मोह (निद्रा, आलस्य आदि) ये सब धर्म मन के साथ रहते हुए ही प्रतीत होते हैं।

मन का कार्य अथवा प्रयोजन क्या है? कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि ही उसका कार्य अथवा प्रयोजन है।

मन का निवास-स्थान कहाँ है?

शारीरकोपनिषद् में लिखा है—

"मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम्, तेषां क्रमेण

संकल्प विकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणस्वरूपाश्चैते विषयाः मनः स्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहङ्कारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति ।"

अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त इन चारों का योग अंत:-करण कहा जाता है। संकल्प-विकल्प मन का विषय है, निश्चय करना बुद्धि का और अभिमान करना अहंकार का विषय है।

मन का स्थान कंठ है, बुद्धि का स्थान मस्तक है, अहंकार का स्थान हृदय है, चित्त का स्थाने नाभि है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि संकल्प-विकल्प कण्ठ में ही उत्पन्न हाता है। इसी प्रकार विस्मरण होने पर हम नेत्र बन्द करके मस्तक की ओर, ऊपर की ओर विचार करते प्रतीत होते हैं। अभिमानी व्यक्ति छाती पर हाथ रख कर अहंकारोक्ति करता है और जब चित्त में हर्ष या भय उत्पन्न होता है तब नाभिस्थान में धड़कन होने लगती है।

मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त भिन्न २ कहे गये हैं, किन्तु वास्तव में वे एक ही हैं। शास्त्रकारों ने उनको एक कथन भी किया है, कहा है कि जैसे बर्फ, भाप, फेन और जल प्रगट रूप में भिन्न २ दिखाई पड़ने पर भी वास्तव में जल ही हैं, वैसे ही ये चारों भिन्न २ जान पड़ने पर भी वास्तव में एक ही हैं।

वृहदारण्यकोपनिषद में मन का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

"अन्यत्र मनो अभूवम् नादर्शमन्यत्र मनो अभूवम् ना-

श्रोषमिति । मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति, इत्येतत् प्रमाणम् ।"

तात्पर्य यह है कि मन अन्यत्र होने पर न आँख ने देखा न कान ने सुना ।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में एक इतिहास इस प्रकार का लिखा है कि एक लोहार तीर बना रहा था, उसका मन बाण के बनाने में अति ही लीन हो गया था, उसके सामने से राजा सेना सहित निकल गया और उसे पता न चला । इससे स्पष्ट है कि वास्तविक द्रष्टा नेत्रेन्द्रिय नहीं है, मन ही है ।

जब कोई पीठ में स्पर्श करता है तो उस स्पर्श वाली वस्तु को हम मन से ही जान सकते हैं, क्योंकि पीठ की ओर नेत्र तो पहुँच ही नहीं सकते ।

इन सब बातों से मन का होना प्रमाण-सिद्ध है ।

मन का परिमाण क्या है ? अर्थात मन अणु परिमाण वाला, मध्यम परिमाण वाला या महत्परिमाण वाला है ?

नैयायिक मन को नित्य, निरवयय तथा अणु परिमाण वाला मानते हैं, किन्तु इनमें से मन नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि घट के समान वह परिच्छिन्न और सावयव है ।

यहां यह शंका हो सकती है कि मन सावयव कैसे है ?

श्रुति का प्रतिपादन है कि मन अन्न का विकार है । यदि हम उसे सावयव न मानेंगे तो श्रुति के इस मत में बाधा पड़ जायगी । छांदोग्योपनिषद् षष्ठाध्याय पंचम खंड में महर्षि

उद्दालक और श्वेतकेतु के प्रश्नोत्तर द्वारा इसी विषय को स्पष्ट किया गया है—

अन्नमशित त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थाविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।"

अर्थात् हम जो भोजन करते हैं उसके तीन विभाग हो जाते हैं, जो स्थूल भाग होता है वह विष्ठा होता है, जो मध्यम भाग होता है वह मांस होता है और जो सूक्ष्म भाग होता है वह मन होता है।

'अन्नमयं हि सौम्य मनः', अर्थात् हे सौम्य, मन अन्न का विकार अथवा कार्य है।

श्वेतकेतु ने प्रश्न किया, "हे पूज्य पिता जी, मुझको कैसे निश्चय होवे कि मन अन्न का कार्य है।

उद्दालक ने कहा, "हे पुत्र पुरुष का मन सोलह कला का है (षोड़श कलः सौम्य पुरुषः)। इसलिए तुम पंद्रह दिन तक अन्न न खाओ, तब तुमको स्वयं ही ज्ञात हो जायगा कि मन अन्न का कार्य है।"

श्वेतकेतु ने पिता के कहने से पंद्रह दिनों तक अन्न नहीं खाया। चौदह दिन के ब.द उद्दालक ने पुत्र से पूछा,"तुमको अब वेद याद हैं या नहीं ?"

श्वेतकेतु ने कहा, "पिता जी इस समय मुझे कुछ भी याद नहीं है।

उद्दालक ने कहा, "अब तुम थोड़ा थोड़ा खाओ और मात्रा बढ़ाते चलो।"

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया। आठ-दस दिनों के बाद पिता ने फिर पूछा, "बेटा, तुम्हें वेद याद हैं या नहीं?"

श्वेतकेतु ने तत्काल सब वेद सुना दिये। तब पिता ने कहा,※ "हे सौम्य, जैसे चन्द्रमा की पंद्रह कलाएँ अमावस्या को क्षीण हो जाती हैं और केवल एक ही रह जाती है तथा शुक्ल पक्ष में फिर बढ़ने लगती हैं वैसे ही मन की सोलह कलाओं में से पंद्रह दिनों तक अन्न न खाने से एक कला शेष रह गयी थी। फिर वह एक कला अन्न के खाने से अन्न के सूक्ष्म रस से युक्त हुई और मन की कलाएँ प्रज्वलित होकर बढ़ने लगीं। इन कलाओं के बढ़ने ही से तुमने वेदों का अनुभव किया।" अतः मन अन्न का कार्य है, चन्द्रमा की तरह ही क्षीण और पूर्ण होने से सावयव है। सावयव होने से मन मध्यम परिमाण वाला ही है।

यदि मन अन्न का विकार है तो मूर्त्त पदार्थों के साथ उसका प्रतिघात क्यों नहीं होता?

जीवित अवस्था में चक्षुरादि इन्द्रियों की तरह मन का बाहर निगमन न होने से मूर्त्त पदार्थ उसका प्रतिबंध नहीं कर सकता। मरण-काल में बाहर निर्गमन अवश्य होता है, परन्तु उस समय चक्षुरादि ही की तरह मन का भी प्रतिबंध मूर्त्त पदार्थ

※"एवं सौम्य ते षोड़शानाँ कला नामेका कलाऽति शिष्टा भूतसाऽन्नेनोपसमाहिता प्रज्वालीत्तयैत हिं वेदाननुभवस्यन्नमयं हि सौम्य मनः"

द्वारा नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में जैसे घटादि अणु परिमाण वाला नहीं है, वैसे ही मन भी अणुपरिमाण वाला नहीं है।

मीमांसक ❀ मन को विभु मानते हैं और इसी कारण उसे महत्परिणाम वाला बताते हैं। उनके मतानुसार विभु मन की वृत्ति संकोच-विकास वाली होती है, किन्तु विभु मन संकोच-विकास वाला नहीं होता। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। भाष्य में कहा है—

"घट प्रासाद प्रदीपकल्पं संकोच-विकाशि चित्तं शरीर परिमाण कारणात्रनित्य परे प्रतिपन्नाः तथा चान्तराभावःसंसार-श्चयुक्त इति भाष्यम्।"

अर्थात् जैसे घट और राजमंदिर रूप अल्प और महान् आश्रय के भेद से उनमें प्रदीप का प्रकाश संकोच तथा विकास अथवा विस्तार वाला होता है और जैसे पिपीलिका और गज रूप अल्प और महान् आश्रय के भेद से उनमें मन भी स्वल्प और विस्तृत परिमाण वाला हो जाता है वैसे ही शरीर के परिमाण के समान ही मन का परिमाण हो जाता है। ऐसा मानने ही से मन का परलोक-गमन, अन्तराभाव अथवा शरीर के भीतर न रहना, फिर परलोक से आगमन आदि युक्तियुक्त हो सकते हैं। इसके विपरीत यदि हम मन को विभु मान लें तो अपनी निष्क्रियता के कारण परलोक-गमन तथा इहलोक-आगमन रूप

❀वृत्ति रेवास्य विभोः संकोच विकासिनीत्याचार्य्यः

क्रियावाला नहीं हो सकेगा और सर्वेन्द्रियों के साथ एक काल में संयोग होने से सर्वज्ञता का प्रसंग भी आ जायगा। अतः मन को मध्यम परिमाण वाला मानना ही युक्त है।

सांख्य अध्याय १, सू० १२४ में कहा है—

"हेतुमदनित्यमव्यापिसक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्"

अर्थात् मन हेतुमद् कारणवाला अथवा कार्य, सर्वदा न रहने वाला, सर्वत्र विद्यमान न रहनेवाला, क्रियावाला, भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न होने वाला, अपने अवयवों में रहने वाला, प्रवृत्ति से भिन्न कार्य जानने वाला है।

मन व्यापक नहीं है। करण है, इन्द्रिय है, क्रियावाला है तथा परलोक में गमन वाला है, इस कारण वह विभु नहीं है। *

इस स्थल पर यदि कोई शंका करे कि श्रोत्र के समान नित्येन्द्रिय होने से मन विभु है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मन और श्रोत्र को श्रुति ने उत्पत्ति वाले कहे हैं—

"एतस्मात् प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणिच"—मुंडक

अर्थात् मन और श्रोत्र दोनो ही जन्य हैं, इस कारण मन विभु नहीं है।

मन के अवयवों का उपचय तथा अपचय होता है; इससे चींटी के मन के अवयव देहान्त रूप में हाथी का शरीर मिलने

---

* व्याहकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा सक्रियत्वाग्दतिः श्रुतेः सां० अ० ५ सू० ६९-७०

पर बढ़ जाते हैं और चींटी के शरीर में आने वाले हाथी के मन के अवयव घट जाते हैं।

मन विषयाकार परिणाम को प्राप्त होता है; इससे भी वह मध्यम परिमाण वाला सिद्ध होता है, क्योंकि अणु परिमाण वाले परमाणु आदि तथा महत् परिमाण वाले आकाशादिक का परिणाम नहीं होता। दूसरी बात जिससे मन मध्यम परिमाण वाला सिद्ध होता है यह है कि मन का सुषुप्तिकाल में लय और जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में प्रादुर्भाव होता है।

परिणामी होने के कारण भी मन मध्यम परिमाण वाला सिद्ध होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परिणामी किसे कहते हैं? एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। हम देखते हैं कि तालाब का जल नाली से बहता हुआ वर्त्तुलाकार चतुष्कोण त्रिकोणादि आकार वाले खेत में जा कर उन उन आकारों वाला हो जाता है; ठीक इसी प्रकार मन भी चक्षुरादि इन्द्रियों के मार्ग से, वृत्ति रूप से, बाहर जा कर जिस घटादि विषय के साथ चक्षुरादि इद्रिन्यों का सम्बन्ध होता है उसी घटादि के समान परिणाम को वह प्राप्त हो जाता है। किन्तु मन जल की तरह धीरे-धीरे बहनेवाला तरल पदार्थ नहीं है; वह तो अत्यन्त दूर रहने वाले षोड़श कला * युक्त पूर्णमासी के चंद्रमा तथा तारा गणादिक

* षोड़श कलाएँ = अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति शशिनी, चंद्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्रिय, प्रीति, अंगदा, पूर्णा, पूर्णाम्रृता।

के पास शीघ्रता से पहुँच जाता है और जैसे चंद्र की किरणें शीघ्र ही पृथिवी पर आ जाती हैं और शीघ्र ही चंद्र में जा कर संकुचित हो जाती हैं, वैसे ही मन भी शीघ्रातिशीघ्र जाता और लौट आता है।

मन का परिणाम शरीर से लेकर घटादि पर्यन्त डंडे के समान बराबर बना रहता है। उसके तीन भाग होते हैं; एक तो शरीर के भीतर ही होता है, जिसे प्रमाता कहते हैं; दूसरा विषय तक पहुँचने वाला है, जिसे प्रमाण कहते हैं और तीसरा पदार्थ के आकार का होकर पदार्थ का ज्ञान रूप हो जाता है, जिसे प्रमा कहते हैं। मन के स्वच्छ होने से उसमें चेतन आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिए वह ज्ञाता, प्रमाता, कर्त्ता आदि कहा जाता है।

मन की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। जाग्रदवस्था में शरीर तथा चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियां और हस्तादि कर्मेन्द्रियां अपने अपने कार्य में तत्पर होती हैं और जीवात्मा संसार के स्थूल शब्द स्पर्शादि पदार्थों का अनुभव करता है। जाग्रदवस्था की समाप्ति होने पर थकावट तथा अन्नादि आहार की मादकता से समस्त इन्द्रियां मन में लीन हो जाती हैं, सब अंग शिथिल हो जाते हैं, नेत्रादि इन्द्रियों पर निद्रा के परदे पड़ जाते हैं, जाग्रत का सब संसार लुप्त हो जाता है, स्थूल शरीर शव के समान हो जाता है और स्वप्न के भोगप्रद कर्मों के उदय होने से स्वप्निक पदार्थों को रचकर उनमें रमण करने लगता है। जब स्वप्न के

भोग पूरे हो जाते हैं और मन थक जाता है तब वह अज्ञान में लीन होकर हृदय में चला जाता है, इसी को सुषुप्ति कहते हैं। इस काल में स्थूल या सूक्ष्म कोई भी भोग नहीं रहते हैं, केवल आत्मा ही सुख-स्वरूप से शेष रह जाता है। सुषुप्ति अवस्था आत्मज्ञान की सुखावस्था का नमूना मात्र है, मुक्ति नहीं है, क्योंकि वह अस्थायी और तमोभिभूति अर्थात् अज्ञान से युक्त होती है।

राजस, तामस वृत्तियों द्वारा मन अति स्थूल हो जाता है। स्थूल मन आत्मा के साक्षात्कार के योग्य नहीं होता, जैसे स्थूल कोंहड़े से रेशमी कपड़े को सीना संभव नहीं है, उसके लिए तो बारीक सूई ही चाहिए। अति सूक्ष्म आत्मा के साक्षात्कार के लिए सूक्ष्म मन चाहिए। श्रुति का कथन है—

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"

अतः आत्मा के साक्षात्कार के लिए मन की सूक्ष्मता की अत्यन्त अपेक्षा है।

राजस, तामस वृत्तियों के विरोध से ही मन की सूक्ष्मता प्राप्त होती है। इसी सूक्ष्मता-प्राप्ति को मन का नाश कहते हैं।

तृतीय अध्याय

मन की वृत्तियाँ

पिछले अध्याय में हमने कहा है कि तामस राजस वृत्तियों को रोकने से मन सूक्ष्म होकर आत्मसाक्षात्कार के योग्य हो जाता है। इससे यह जिज्ञासा होती है कि वृत्ति किसको कहते हैं? उसका कारण क्या है? प्रयोजन क्या है? इत्यादि।

विषय के अभिव्यंजक मन के परिणाम तथा अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते हैं; दूसरे शब्दों में अस्ति व्यवहार के हेतु, अंत:करण के परिणाम तथा अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शब्द का पारिभाषिक अर्थ है।

मन की ज्ञानवृत्ति का उपादान कारण मन और निमित्त कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के संयोगादिक व्यापार हैं। इसी प्रकार ईश्वर की ज्ञान रूप वृत्ति का उपादान कारण माया और निमित्त कारण प्राणियों के अदृष्ट आदि हैं। भ्रम रूप वृत्ति का उपादान कारण अविद्या और निमित्त कारण चक्षुरादिक के दोष हैं।

अज्ञान की निवृत्ति ही वृत्ति का मुख्य प्रयोजन है। घटादिक अनात्माकार वृत्ति के द्वारा घटादिक में विद्यमान चेतन के अज्ञानांश की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार अखंड ब्रह्माकार वृत्ति से निरवच्छिन्न अर्थात् उपाधिरहित व्यापक चेतन में रहनेवाले अज्ञान का निराकरण होता है।

जीवात्मा का जाग्रदादि अवस्थात्रय का सम्बन्ध वृत्ति द्वारा होता है और मोक्ष की प्राप्ति भी वृत्ति द्वारा ही होती है। अतएव संसार की प्राप्ति की तथा मुक्ति की प्राप्ति का हेतु वृत्ति ही है।

जाग्रत अवस्था में वृत्ति इन्द्रियों से जन्य होती है, स्वप्न में इन्द्रियों से अजन्य होती है और सुषुप्ति में अविद्यामय होती है। जाग्रदादि अवस्थाओं का अभिमान ही संसार अर्थात् बंधन है, भ्रमज्ञान का नाम ही अभिमान है, वह भी वृत्ति विशेष ही है। अतएव वृत्तिकृत बंधन ही संसार है और वेदान्त के महा-वाक्यों से जन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, जब अंतःकरण की ऐसी वृत्ति होती है तब उस वृत्ति से प्रपंचमय अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है; यही मोक्ष है। अतएव सांसारिक दशा में व्यवहार की सिद्धि वृत्ति का प्रयोजन है और मोक्ष मुख्य प्रयोजन है।

प्रमाता चैतन्य के विषय के साथ सम्बन्ध कराने के लिए तथा विषयगत चैतन्य का आवरण भंग करने के लिए वृत्ति की अपेक्षा होती है।

जैसे अगाध जल से भरपूर नदी में वायुजन्य चंचलता से जल ही तरंग रूप से परिणाम को प्राप्त होकर गमनागमन रूप स्वभाव वाला होने से कभी तट को त्याग कर, बहिर्मुख होकर इधर-उधर बहता हुआ प्रवाह से जुदा होकर तीर के पास खड्डों या गर्तादिकों से सम्बद्ध होकर उनके ही आकार रूप परिणाम वाला हो जाता है और कभी वही जल बहिर्मुखता को त्यागकर उलटे वेग को धारण कर स्वजंगीभूत—अर्थात् जिससे जुदा हुआ

था उसी प्रवाह के पास ही तरंगाकार से परिणत हो जाता है और कभी वायु के न चलने से चंचलता को त्यागकर अपने स्वरूपभूत प्रवाह के ही अन्तर्भूत हो जाता है वैसे ही चित्त में विषयों के ज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए संस्कार से अनेक प्रकार की वृत्तियाँ जन्म लेकर कभी श्रोत्र, कभी चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा बाहर अनेक प्रकार के घटपटादि पदार्थों से सम्बद्ध होकर उन विषयों के समान आकार वाली हो जाती हैं, कभी बहिर्मुख परिणाम को त्याग कर अपने कारणभूत मन के समीप ही, हृदय के भीतर ही काम, क्रोध, राग द्वेषादि रूप से स्थित होती हैं, कभी अत्यन्त शान्त होकर मनरूप ही हो जाती हैं। अर्थात् वे चित्त की वृत्तियां निरन्तर बाह्य तो घटपटादि आकार से तथा आन्तर काम क्रोधादि आकार से उत्पन्न होती रहती हैं। उन वृत्तियों के स्वाभाविक प्रवाह का अपने कारण रूप मन में लीन होकर स्थित रहना ही चित्त वृत्ति का निरोध कहा जाता है।

भिन्न-भिन्न वृत्तियों के कारण मन की जो भिन्न-भिन्न अवस्था होती है उसके भेद से मन पाँच प्रकार का माना गया है—(१) क्षिप्त; (२) मूढ़; (३) विक्षिप्त; (४) एकाग्र; (५) निरुद्ध।

जो मन रजोगुण की अधिकता से अत्यन्त चंचल होकर संसार के मिथ्या विषयों के सुखों में सत्यत्व बुद्धि के कारण जोंक के समान एक विषय को त्याग कर दूसरे विषय को ग्रहण करता हुआ कदापि स्थिर नहीं होता, वह क्षिप्त कहा जाता है। ऐसा

मन प्रायः दैत्यों का तथा उनके समान मदान्ध पुरुषों का हुआ करता है।

जो मन तमोगुण की विशेषता से कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक-रहित, सतत आलस्य, निद्रादि ही में निमग्न रहता है और कदाचित् आलस्यादि को त्यागकर किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर भी क्रोधान्ध होकर अकारण ही किसी को मारने में या कटुभाषण में तत्पर हो जाता है, वह मूढ़ कहा जाता है। ऐसा मन प्रायः पिशाच, निशाचरों और मदिरा पान करने वालों का हुआ करता है।

जो मन सत्व गुण की अधिकता से सर्वदा सर्वथा दुःख के साधन रूप पदार्थों का त्याग करके प्रायः सुख के साधन रूप कार्यों के करने में ही तत्पर रहता है वह विक्षिप्त* कहा जाता है। ऐसा मन प्रायः देवताओं तथा निष्काम शुभ कार्यों का अनुष्ठान करने वाले साधक पुरुषों का हुआ करता है।

जो मन रज, तम रूप पाप से रहित शुद्ध सत्त्व गुण प्रधान होकर किसी सूक्ष्म तत्त्व के आलम्बन से प्रतिक्षण निर्वात देशस्थ दीपक की शिखा के समान स्थिर हो जाता है वह एकाग्र हो जाता है। ऐसा मन उन लोगों का होता है जो अभ्यास वैराग्यादि साधन द्वारा संप्रज्ञात समाधि में आरूढ़ हो चुके हैं।

---

* यहाँ 'विक्षिप्त' शब्द से विशेष क्षिप्त नहीं समझना चाहिए। यहाँ तात्पर्य क्षिप्त से विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ कहने का है।

जो मन निरालम्बन, स्वकारण प्रकृति में लीन, निस्तरंग, निस्पंद होकर दग्धरज्जु के समान, केवल संस्कार मात्रावशिष्ट, भूजित चणकावत् स्वकार्य उत्पन्न करने में शक्ति-रहित होता है, वह निरुद्ध कहा जाता है। ऐसा मन तीव्रतर वैराग्य वालों का हुआ करता है। इसी निरुद्ध मन वाले को कृत-कृत्य और जीवन्मुक्त कहते हैं।

विक्षिप्त मन से एकाग्र मन का भेद यह है कि विक्षिप्त चित्त में रजोगुण के लेश-सहित सत्त्वगुण प्रधान रहता है। उसके विपरीत एकाग्र मन में रजोगुण का लेश भी न रहकर शुद्ध सत्त्व गुण ही प्रधान होता है।

एकाग्र मन से निरुद्ध मन का यह भेद है कि एकाग्र में किसी न किसी तत्त्व का अवलम्बन, आश्रय, बना रहता है; उसके विपरीत निरुद्ध मन निरालम्बन, मृतप्राय हो जाता है।

यहाँ यह भी जान लेना उचित है कि जैसे क्षिप्तादि अवस्थाएँ मन के धर्म हैं, वैसे ही निरुद्धावस्था भी मन का ही धर्म है। किन्तु पुरुष का वह धर्म नहीं है, क्योंकि नित्य, कूटस्थ होने से पुरुष में परिणामिता नहीं है जिससे उसमें कभी वृत्ति की उत्पत्ति और कभी निरोध होना असम्भव ही है।

भाष्यकारों ने निरोध को मन का धर्म्म कहा है।

इस प्रकार यह एक ही मन क्षिप्तादि भूमिका अर्थात् अवस्था भेद से पाँच प्रकार का बताया गया है। उक्त पाँचों अवस्थाओं में से अन्त की दो अवस्थाएँ ही योग शब्द से कथन की गयी

हैं; अन्य तीन नहीं। क्योंकि क्षिप्त तथा मूढ़ अवस्था तो रजोगुण तथा तमोगुण की अधिकता से योग की विरोधिनी हैं। हां, विक्षिप्तावस्था योग के कुछ कुछ (यत्किंचित्) अनुकूल हो सकती है; किन्तु रजोगुण से सम्पर्क रखने के कारण वह त्यागने योग्य कोटि में ही है।

भाष्यकारों ने विक्षिप्त मन के निरोध को योग के योग्य नहीं माना है, किन्तु एकाग्र मन के निरोध के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह परमार्थभूत ध्येय वस्तु का साक्षात्कार कराता है, अविद्यादि क्लेशों का नाशक है, बन्धन के कारण कर्मजन्य अदृष्टों को भूँज कर आगामी जन्मादि-उत्पादन में असमर्थ कर देता है और असंप्रज्ञात समाधि के सम्मुख कर देता है। निरोध अवलम्बन सहित संप्रज्ञात योग कहलाता है।

संप्रज्ञात योग के चार भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत। ये सब मन की अवस्थाएं हैं। मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा—ये भी मन की अवस्थाएं ही हैं।

यहां यह शंका उठती है कि एक ही मन का परस्पर विलक्षण क्षिप्तादि भूमिकाओं से सम्बन्ध किस निमित्त से होता है तथा असंप्रज्ञात समाधि द्वारा ध्येयाकार सात्त्विकी वृत्ति का भी निरोध करने में क्या कारण है, क्या प्रयोजन है?

मन त्रिगुणात्मक है, गुणों का स्वभाव चंचल है, इसलिए गुणों के न्यूनाधिक होने से ही मन उक्त भूमिकाओं के साथ

सम्बन्धवाला हो जाता है ! जब वह प्रख्या (तत्वज्ञान) प्रसाद (प्रसन्नता, निर्मलता) प्रीति (अभिरुचि, उत्साह) लाघव (हलकापन), प्रकाश, क्षमा, दया, उदारता, धैर्य, शान्ति, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य-विवेकादि धर्म्मयुक्त होता है तब सात्विक कहा जाता है। जब प्रवृत्ति, कर्म्म करने में उद्योग, परिताप अर्थात् अभिलषित कार्य की पूर्णता न होने से चिन्ता विशेष, शोक अर्थात् पुत्र कलत्रादि के वियोग से खेद, लोभ, ईर्ष्या आदि से युक्त होता है तब राजस कहा जाता है और जब यह स्थिति, प्रवृत्ति-विरोधी स्तब्धीभाव, विह्वलता, आवरण अर्थात् तत्त्वज्ञान का प्रतिबंधक अज्ञान की शक्ति विशेष, गौरव अर्थात् भारीपन, दैन्य, आलस्य भयादि धर्म्म विशिष्ट होता है तब तामस कहा जाता है।

जब मन अभ्यास द्वारा रजोगुण तथा तमोगुण से शून्य होकर विशुद्ध सत्त्वगुण युक्त होता है तब वह स्वाभाविक अपने ज्ञान-स्वरूप निज रूप में स्थित होकर, प्रकृति से पुरुष को जुदा जान कर, धर्ममेघ समाधि के उन्मुख हो जाता है। यद्यपि यह धर्ममेघ समाधि भी एकाग्र मन का ही धर्म है, मन स्वरूप धर्मी नहीं है, तथापि धर्म धर्मी के अभेद का आश्रय लेकर मन मेघ समाधि या संख्यान अर्थात् तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त करता है।

पुरुष परिणाम से रहित, गुणातीत, निर्लेप, दर्शित विषय शुद्ध अनन्त है, अर्थात् जैसे नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा बुद्धि विषयों से सम्बद्ध नहीं होती है वैसे पुरुष किसी विषय के साथ सम्बद्ध नहीं होता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि पुरुष निर्लेप, असंग ही है, तो फिर विषयों का प्रकाश कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि वृत्ति रूप उपाधि से ही विषयों का प्रकाश पुरुष करता है, स्वाभाविक नहीं करता है। अतः सुख दुख मोह रूप बुद्धि में स्थित धर्मों से असम्बद्ध होने से स्वभावतः पुरुष शुद्ध है।

बुद्धि वृत्ति रूप प्रसंख्यान परिणामी सत्त्वगुणात्मक, ध्येय-लिप्तिजन्य, मलिन, सान्त होने से पुरुष से विपरीत हैं, अतः प्रसंख्यान भी त्यागने-योग्य ही है, इस विचार से राग रहित होकर पुरुष निजरूप में स्थित होने के लिए ज्ञान प्रसाद संज्ञक तीव्र वैराग्य द्वारा विवेक ख्याति को निरुद्ध करता है। इस निरुद्धावस्था में मन संस्कारशेष कहा जाता है। इस संस्कार-शेष मन को ही निर्बीज समाधि कहते हैं। अविद्या आदि क्लेशों से अनुविद्ध होकर जन्म और भोग के देने वाले धर्माधर्म रूप समस्त बीज इस समाधि के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं, इसलिए इस अवस्था को मिर्बीज कहा है।

इस प्रकार गुणों की न्यूनाधिकता के कारण एक ही मन अनेक भूमिकाओं के साथ सम्बद्ध होता है और पुरुष को स्वरूपा-वस्थिति के लिए ध्येयाकार वृत्ति के निरोध की आवश्यकता पड़ती है। जब कि ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध करना आवश्यक है तब अन्य वृत्तियों का निरोध तो सुतरां कर्त्तव्य है।

चतुर्थ अध्याय

मन की वृत्तियों का निरोध

निरुद्धावस्था में ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध होने से मन संस्कारशेष मात्र रह जाता है; ऐसी अवस्था में जब मन असंप्रज्ञात समाधि-अवस्थाविशिष्ट हो जाता है उस समय आत्मा का क्या स्वभाव होता है अर्थात् किस स्वरूप से पुरुष स्थित होता है? जिस जिस आकार को मन धारण करता है उसी आकार वाला पुरुष का स्वभाव हो जाया करता है, किंतु निरुद्धावस्था में मन के निराकार होने से निःस्वभाव पुरुष का रहना असंभव है। प्रश्न यह है कि नैयायिकों के मतानुसार आत्मा को वस्तुगत्या जड़ मानते हुए समाधि से या सुषुप्ति से व्युत्थान काल में बुद्धि वृत्ति की सन्निधि से पुरुष चेतन भासता है अथवा निरुद्धावस्था में बुद्धिवृत्ति के न होने से पाषाणवत् जड़ रूप, अप्रकाश रूप होकर स्थित हो जाता है? अथवा इस अवस्था में मरणावस्था के सदृश पुरुष का अभाव हो जाता है? अथवा आत्मा है तो असङ्ग प्रकाश स्वरूप, किन्तु व्युत्थानकाल में बुद्धिरूप उपाधि से वह ज्ञातृत्वादि मिथ्या धर्म विशिष्ट भासता है और निरुद्धावस्था में उपाधि के अभाव से कल्पित मिथ्या रूप को त्याग कर शान्त आनन्दादि निज रूप में अवस्थित हो जाता है? इन सब में से अन्तिमपक्षसिद्धान्तभूत है। अतः इसी पक्ष को सूत्रकार अंगीकार

करते हुए योग के फल को भी सूत्र से ही कथन करते है—

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।"

अर्थात् निखिल वृत्ति निरुद्ध रूप असम्प्रज्ञातावस्था में चेतन पुरुष की निर्विकल्प असंग निर्विकार निज रूप में स्थिति हो जाती है। जैसे जपा पुष्प रूप उपाधि के दूर करने से स्फटिक मणि अपने स्वच्छ रूप में स्थित हो जाती है, वैसे ही चित्तवृत्ति रूप उपाधि के अभाव से आत्मा भी अपने स्वच्छ, शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है।

निरुद्धावस्था में पुरुष का अभाव नहीं हुआ करता, जैसे कैवल्यावस्था (विदेह मोक्ष) में शान्त (सात्विक) घोर (राजस) मूढ़ (तामस) आदि उपाधियों को त्याग कर पुरुष अपने नैसर्गिक असंग चेतन रूप से स्थित हो जाता है वैसे ही निरुद्धावस्था में भी पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

मन और आत्मा एक पदार्थ नहीं हैं कि मन का अभाव होने पर आत्मा का अभाव माना जाय। शान्तादि रूप पुरुष का स्वभाव नहीं है; वह सब औपाधिक है और बुद्धि रूप उपाधि के अभाव से औपाधिक शान्ति आदि वृत्तियों का ही अभाव हो सकता है। किन्तु आत्मा का अभाव नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा तो अपने अनौपाधिक रूप से ही स्थित रहता है।

सुषुप्तिकाल में सवासनिक मन अपने कारण रूप अज्ञान में लीन होकर स्थित रहता है, अतः सुषुप्ति भी गौण मुक्ति है। शङ्कराचार्य ने सुषुप्ति और जीवन्मुक्ति में यत्किञ्चित्त भेद लिखा है—

अल्पानल्प प्रपञ्च प्रलय उपरतिश्चेन्द्रियाणां सुखाप्ति–
र्जीवन्मुक्तौ सुषुप्तौ त्रितयमपि समं किन्तु तत्रास्ति भेदः ।
प्राक् संस्कार-प्रसुप्तः पुनरपि च परा वृत्तिमेति प्रबुद्धो ।
नश्यत्संस्कार जातो न स किल पुनरावर्त्तते यश्चमुक्तः ॥

अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरादि सर्व प्रपंच का लय तथा इन्द्रियों की उपरामता एवं आनन्द की प्राप्ति ये तीनों जीवन्मुक्ति तथा सुषुप्ति में समान ही हैं, किन्तु उनमें कुछ भेद भी है, वह यह कि सोया हुआ पुरुष अपने पूर्व संस्कारों के कारण जाग कर सुषुप्ति से फिर लौट आता है। किन्तु जो मुक्त हो जाता है उसके अज्ञान-सहित सब संस्कार नष्ट हो जाते हैं, इसलिए मुक्त पुरुष का पुनरावर्त्तन नहीं होता। इस लय अवस्था को ही निद्रावृत्ति कहते हैं। इसका भी निरोध करना ही उचित है, क्योंकि लय अवस्था में, अर्थात् सुषुप्त काल में, अज्ञान का आवरण होने के कारण आत्मा का दर्शन नहीं होता।

यहाँ एक शंका यह होती है कि जैसे जपाकुसुम रूप उपाधि के अभाव से स्फटिक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है वैसे ही निरुद्धावस्था में चित्तवृत्ति रूप उपाधि के अभाव से आत्मा स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो व्युत्थान-काल में वह स्वस्वरूप में स्थित नहीं होता होगा, यह अवश्य ही सिद्ध होता है और उस दशा में आत्मा भी परिणामी हो जायगा। यदि ऐसा कहें कि व्युत्थानकाल में भी आत्मा स्वरूप में ही स्थित रहता है तो

समाधि और व्युत्थान में कुछ भी भेद न हुआ। जब वह सर्वदा निज स्वरूप में स्थित ही है तो समाधि का फल ही क्या हुआ ?

इसका समाधान यह है कि आत्मा व्युत्थान काल में भी स्वस्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है, तथापि व्युत्थान काल में निज रूप से आत्मा का भान नहीं होता। अर्थात् आत्मा कूटस्थ नित्य होने से कदापि स्वस्वरूप से प्रच्युत नहीं होता है, अतएव जैसा निरोधकाल मेंआत्मा का स्वभाव है वैसा ही व्युत्थान काल में है, किंतु अविवेक से वैसा भासता नहीं। अतएव आत्म अपरिणामी है।

व्युत्थान काल में मन की वृत्तियों के समान द्रष्टा का रूप हो जाता है, अर्थात् जैसी जैसी शान्त, घोर या मूढ़ मन की वृत्ति उत्पन्न होती है वैसे वैसे रूप अर्थात् आकार से ही आत्मा का भान होता है; बुद्धि द्वारा प्रदर्शित या निवेदित विषय होने से ही आत्मा बुद्धि की वृत्ति के समान आकार वाला सा हो जाता है, किन्तु वास्तव में होता नहीं, क्योंकि विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो अनेक प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती हैं वे बुद्धि का ही धर्म हैं, आत्मा का नहीं। आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है, किन्तु मन के अविवेक से वह आत्मा का धर्म भासता है। बुद्धि विषयों का ग्रहण करके उन्हें प्रतिबिम्ब रूप से आत्मा में समर्पण कर देती है। इसी का नाम दर्शित अर्थात् निवेदित विषय है। विष्णुपुराण में कहा है—

गृहीतानिन्द्रियै रर्थानात्मने यः प्रयच्छति ।
अन्तः करण रूपाय तस्मै शिवात्मने नमः ।

अर्थात् जो बुद्धि अथवा अन्तःकरण इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करके आत्मा के प्रति समर्पण करता है उस अन्तः-करण शिव को नमस्कार है।

इस अर्थ की पुष्टि में सूत्र है—

"द्रष्टा दृश्य मात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।"

अर्थात् जो सर्व धर्मों से रहित चेतनमात्र आत्मा अथवा ज्ञान स्वरूप पुरुष वही द्रष्टा कहा जाता है। यद्यपि पुरुष ज्ञान स्वरूप ही है तथापि बुद्धि रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर उस बुद्धि के धर्म रूप ज्ञान का आश्रय भासता है। अतएव बुद्धि वृत्ति का अनुकारी—तदाकारधारी होने से यह पुरुष प्रत्ययानुपश्य कहा जाता है अर्थात् चेतन प्रतिबिम्बित ग्राहिणी बुद्धि वृत्ति के विषयाकार और ज्ञानाधार होने से तद्विभागापन्न पुरुष भी ज्ञान का आश्रय भासता है, यद्यपि साक्षी रूप होने से वह वैसा नहीं है।

दृश्यमान चेतन पुरुष न तो बुद्धि के समान रूप वाला है न अत्यन्त विभिन्न रूप वाला है, उसका विषयभूत बुद्धितत्त्व सर्वदा उसे ज्ञात ही रहता है, वह असंहन, असंग होने से किसी अन्य के लिए नहीं है, अतः स्वार्थ है। अपरिणामी भोक्ता पुरुष किसी विषय से सम्बद्ध न होने के कारण निर्लेप

है तथापि परिणामिनी बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर तदाकार होने से उस बुद्धि की वृत्ति का अनुसारी हो जाता है। इस अनुसार मात्र से बुद्धि वृत्ति के साथ अभिन्नवत् होने वाला वह चेतन ही ज्ञानवृत्ति कहा जाता है। इस वाक्य से, बुद्धि वृत्ति के अनुसार से पुरुष को द्रष्टा कहा है।

सूत्र है —

'सत्वपुरुषयोरत्यन्तऽसङ्कीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थ संयमात् पुरुष ज्ञानम्'

अर्थात् अतिशय भिन्न भिन्न धर्मवाले होने से अत्यन्त विभिन्न बुद्धि का भोग* रूप प्रत्यय यद्यपि बुद्धि का धर्म्म है तथापि बुद्धि पुरुष के लिए होने के कारण यह भोगरूप बुद्धिधर्म भी पुरुष के लिए जानना चाहिए। इसी से यह भोगरूप प्रत्यय दृश्य कहा जाता है।

भोगरूप प्रत्यय से भिन्न चेतन मात्र को आलम्बन करने वाला पौरुषेय प्रत्यय रूप बुद्धि-धर्म स्वार्थ-प्रत्यय कहा जाता है; स्वार्थ इस प्रत्यय में संयम करने से चेतन मात्ररूप पुरुष का ज्ञान हो जाता है।

भाव यह है कि रजोगुण वा तमोगुण की प्रधानता वाला जो बुद्धिसत्व है वह तो पुरुष से अत्यन्त विभिन्न है ही, किन्तु सत्वगुण की प्रधानता से प्रख्याशील होकर विवेक-ख्याति-रूप

---

* भोग = प्रभेद रूप से मान

से परिणत होने वाला बुद्धिसत्व भी चिन्मात्र रूप पुरुष से विधर्म्य होने से अत्यन्त विभिन्न है।

जैसे निर्मल जल में पतित हुआ चन्द्र का प्रतिविम्ब अपनी क्रिया के विना ही केवल प्रतिबिम्बाधार जल के चलने से चंचल प्रतीत होता है वैसे हीं मन में प्रतिबिम्बित चेतन भी अपने व्यापार क बिना ही, प्रतिबिम्बाधार चित्त के विषयाकार होने से तदाकार भासता है, कुछ स्वाभाविक नहीं।

चेतन प्रतिबिम्बित मन ही चिदाकार होकर अपने को दृश्य और चेतन को द्रष्टा कर देता है। वास्तव में पुरुष द्रष्टा नहीं है। मन चेतन के अभिन्न रूप से भान होने पर ही आगम में चेतन को बुद्धिवृत्तिविशिष्ट कहा है। प्रतिबिम्बित चेतन से अभिन्न सी इसी बुद्धिवृत्ति को कवि, सर्वज्ञ मुनि ब्रह्मगुहा कहते हैं।

मन ही चेतन से अभिन्न सा होकर विषय और विषयी का उपस्थापक है, इस आशय से ही मन को सर्वार्थ कहते हैं। सूत्र है—

'द्रष्टृ दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्'

अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दोनों से सम्बन्ध होने के कारण मन सर्वार्थ कहा जाता है।

सुरेश्वराचार्य्य ने भी कहा है—

दृश्यानुरक्तं तद् द्रष्ट्व दृश्यं द्रष्ट्रनुरंजितम्।
अहं वृत्यो भयंरक्तं तन्नाशे द्वैततात्मनः।"

—नैष्कर्म्यसिद्धिः

चिदाभासयुक्त मन दृश्य का द्रष्टा होता है और वही मन द्रष्टा साक्षी से कल्पित सम्बन्ध वाला होने से दृश्य हो जाता है। 'अहं' प्रत्यय दोनों से सम्बद्ध है; अतः अहंकार के निवृत्त होने से साक्षी आत्मा की अद्वैतता स्पष्ट है। कहा है—

दृश्याः शब्दादयः क्लृप्ता द्रष्टृ च ब्रह्म निर्गुणम् ।
अह तदुभयं बिभ्रद् भ्रान्तिमात्मनियच्छति ।

अर्थात् शब्दादि द्वैत दृश्य है और सम्बन्ध से रहित आत्मा द्रष्टा है; उन दोनों को अहङ्कार अपने स्वरूप में धारण करता हुआ शुद्धात्मा में भ्रान्ति से प्रतीत कराता है।

मन केवल दृश्य के साथ ही नहीं सम्बद्ध है, किन्तु अपनी वृत्ति द्वारा विषयी पुरुष भी उसके साथ कल्पित सम्बन्धवाला होता है। 'वृत्ति' शब्द यहां मन में चेतन की छाया पड़ जाने का नाम है। जैसे विषय मन में प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे चेतन भी होता है, अतः मन दोनों से सम्बद्ध है। इसी से लोक में 'घटमहं जानामि' घट विषयक ज्ञान वाला मैं हूँ। यह जो प्रत्यक्ष रूप ज्ञान होता है वह विषय और विषयी दोनों का ही उपस्थापक होता है।

जैसे एक स्फटिक मणि अपने दोनों भागों में स्थित रक्त और नील पुष्प के प्रतिबिम्ब से तथा अपने निज रूप से गृहीता, ग्रहण, ग्राह्य तीन रूपों वाला होता है वैसे ही मन अपने रूप से ग्रहण, विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार, और आत्मा के प्रतिबिम्ब से ग्राहकाकार होता है; इस प्रकार अनेकाकार होने से मन सर्वार्थ कहा जाता है।

जैसे चुम्बक मणि सन्निधि मात्र से ही शल्य निकालने का उपकार करके भोग का साधन होने के कारण पुरुष का स्व अर्थात् धन भोग कहा जाता है वैसे ही मन भी सन्निधि मात्र से विषय-निवेदन रूप उपकार करने के कारण पुरुष का स्व और पुरुष उसका स्वामी कहा जाता है। तात्पर्य्य यह है कि शान्त, घोर, मूढाकार - विशिष्ट मन की सन्निधि से पुरुष अपने को मन से भिन्न न जानकर मैं शान्त सुखी हूं, मैं घोर दुखी हूँ, मैं मूढ हूँ, इस प्रकार अपने में मन के धर्म्मों का आरोप कर लेता है और जैसे मलिन दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख मलिनता का आरोप कर अविवेकी पुरुष 'मैं मलिन हूं' इस प्रकार चिन्तायुक्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी उपाधि के धर्म्मों का अपने में आरोप कर मैं सुखी वा दुखी हूँ, इस प्रकार भ्रम-जाल में पड़कर शोक ग्रस्त हो जाता है।

पुरुष असंग है, इससे देशकृत वा कालकृत मन की उसमें सन्निधि असंभव है; यहां योग्यता लक्षण सन्निधि ही अभिप्रेय है भाव यह है कि पुरुष में भोक्तृत्त्व तथा द्रष्टत्व शक्ति है। और मन में दृश्यत्व शक्ति और भोग्यत्त्व शक्ति है, इन दोनों की यही परस्पर योग्यता है। इसी से मन सुख दुःख मोहाकार रूप परिणाम से भोग्य और दृश्य होकर स्वधन कहा जाता है और पुरुष भोक्ता और द्रष्टा होकर स्वामी कहा जाता है यह स्व-स्वामी-सम्बन्ध भी निज रूप के अविवेक से ही है। क्योंकि यद्यपि सुखादि भोग मन का ही धर्म्म है तथापि मन और चेतन

को विविक्त, भिन्न, न जानकर पुरुष अपने में मान लेता है। यही उसका अविवेक है।

अविवेक और वासना का प्रवाह बीजाङ्कुरवत् अनादि है। इस प्रकार मनो वृत्ति विषयक उपभोग में जो चेतन का अनादि स्व-स्वामी-भाव सम्बन्ध है वही वृत्ति सारूप्य में कारण है।

हम देखते हैं कि तालाब के चंचल जल में आकाशस्थ चंद्रमा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से नहीं भासता है, जब लहरें शान्त हो जाती है तब प्रतिबिम्ब स्फुट भासता है; इसी तरह जब मन की वृत्तियां विषयाकार रहती हैं तब चेतन भी तदाकार होने से निज रूप में नहीं भासता है। जब मन की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं तब चेतन स्थिर हो जाता है।

जैसे समुद्र के तट पर निकटस्थित होकर पुरुष यह निश्चय नहीं कर सकता कि समुद्र में उठने वाली लहरों की संख्या क्या है; इसी प्रकार मन की वृत्तियों की गणना करना भी दुर्घट है।

यद्यपि वृत्तियां असंख्य हैं तथापि मुख्य रूप से दो प्रकार की हैं— (१) परोक्ष (२) अपरोक्ष

श्री व्यास भगवान ने परोक्ष रूप वृत्तितँ इस प्रकार की लिखी हैं—

निरोध धर्म्म संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।

चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मादर्शनवर्जिताः।

अर्थात् (१) निरोध; (२) धर्म; (३) संस्कार; (४) परिणाम; (५) जीवन; (६) चेष्टा; (७) शक्ति।

ये वृत्तियाँ शास्त्र तथा अनुमानादि ही से ज्ञात होती हैं। उदाहरण के लिए मन की वृत्तियों की निरोध रूपा जो 'असंप्रज्ञात' या निर्विकल्प अवस्था है वह केवल योगशास्त्र से ज्ञात होने के कारण शास्त्रगम्य है। यही स्थिति पुण्य-पाप धर्माधर्म रूप वृत्ति की है, क्योंकि इन दोनों को हम अनुमान ही से जानते हैं। संस्कारादि अन्य वृत्तियाँ भी अनुमेय ही हैं।

प्रत्यक्ष वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—(१) प्रमाण; (२) विपर्यय; (३) विकल्प; (४) निद्रा; (५) स्मृति।

इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं—(१) क्लिष्ट; (२) अक्लिष्ट।

क्लिष्ट वृत्तियाँ राजस, तामस वृत्ति रूप प्रवृत्ति, परिताप, काम, क्रोध, द्वेष लोभादि हैं।

अक्लिष्ट वृत्तियाँ सात्त्विक प्रख्या प्रसाद प्रभृति हैं।

यद्यपि प्राणीमात्र राग द्वेष युक्त होने से क्लिष्ट वृत्ति प्रवाह-वाला है तथापि अभ्यास करके क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह का तिरस्कार करके अक्लिष्ट वृत्ति प्रवाह वाला भी हो सकता है।

वृत्तियों से संस्कार, संस्कारों से फिर वृत्तियां, फिर उन वृत्तियों से संस्कारों का निरन्तर होना ही वृत्ति संस्कार-चक्र कहा जाता है। निर्विकल्प समाधि में अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करना पड़ता है। अतः निर्विकल्प समाधि ही इस वृत्ति संस्कार-चक्र की सीमा है।

विवेकख्याति के उदय होने से मन भी अपने कर्त्तव्य से निवृत्त हो जाता है और अक्लिष्ट वृत्तियां भी अभ्यास द्वारा

निरुद्ध हो जाती हैं। तब मन कृतकार्य होता है और आत्मा से अभिन्न होकर स्थित हो जाता है।

प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है—(१) प्रत्यक्ष; (२) अनुमान (३) शब्द।

स्मृति और भ्रम से भिन्न पुरुष-निष्ठ यथार्थ अनुभव का नाम प्रमा है। वह यथार्थसंज्ञक प्रमा चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा अथवा धूमादि लिंग द्वारा अथवा आप्त पुरुष के वाक्य श्रवण द्वारा मन की वृत्ति में उत्पन्न होती है।

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राणादि इन्द्रियों का अपने अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि विषयों के सम्बन्ध द्वारा जो मन की वृत्ति विषयाकार उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं।

जो मनोवृत्ति धूमादि लिंग के ज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं।

मन की जो वृत्ति आप्त पुरुष के वचन को श्रवण करके उत्पन्न होती है उसको शब्दप्रमाण कहते हैं।

प्रमा भी तीन प्रकार की है— (१) प्रत्यक्ष प्रमा; (२) अनुमिति प्रमा; (३) शाब्दी प्रमा।

पुरुष-निष्ठ बोध को केवल प्रमा ही कहते हैं, क्योंकि वह फल रूप होने से किसी का करण नहीं है। किंतु बुद्धि में प्रतिबिम्बत्त चेतन (चिदाभास) इस प्रमा ज्ञान का आश्रय है, उसको प्रमाता ज्ञाता कहते हैं, बुद्धि-वृत्ति-उपहित चेतन साक्षी कहते हैं।

सांख्य योग मत में (१) प्रमाण; (२) प्रमा-प्रमाण; (३) प्रमा; (४) प्रमाता; (५) साक्षी इत्यादि भेद से पाँच पदार्थ माने गये हैं; नैयायिक मनोवृत्ति को प्रमाण नहीं मानते हैं, इन्द्रियों को प्रमाण मानते हैं किंतु सांख्य वाले मनोवृत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। सांख्य तथा नैयायिक मत में इतना भेद है।

वेदव्यास ने मनोवृत्ति को प्रमाण और पौरुषेय बोध को प्रमा कहा है, मनोवृत्ति को प्रमा नहीं कहा है।

पुरुष में रहनेवाले ज्ञान की अपेक्षा से मनोवृत्ति को प्रमाण रूप में ग्रहण करने के कारण बौद्ध प्रमा के प्रमा और प्रमाण ये दो नाम हैं।

धूमादि लिंग के द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनुमिति प्रमा, अनुमान प्रमाण से होता है। पाकशाला में धूम के साथ अग्नि देखी जाती है, इस प्रकार नियमस्मरणपूर्वक पर्वत में धूम देखने से अग्निविषयक मनोवृत्ति 'अनुमान प्रमाण' हुई और उससे उत्पन्न ज्ञान 'अनुमिति' हुई।

यथार्थ वक्ता पुरुष के वाक्य के उच्चारण करने से जो मनोवृत्ति उत्पन्न होती है वही शब्द प्रमाण है। आगम प्रमाण भी उसे कहते हैं। इस प्रकार उत्पन्न ज्ञान को शाब्दी प्रमा कहते हैं।

मिथ्या अर्थात् भ्रमज्ञान को विपर्यय* कहते हैं। जैसे रज्जु में सर्पज्ञान, शुक्ति में रजत ज्ञान मिथ्या होने से विपर्यय है।

---

* विपर्य्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्।

संशय-वृत्ति भी विपर्यय वृत्ति ही के अन्तर्गत है, क्योंकि दोनों ही का शमन उत्तरज्ञान से हो जाता है।

मन की विपर्यय वृत्ति को ही अविद्या कहते हैं। इस वृत्ति के पाँच भेद हैं—(१) अविद्या; (२) अस्मिता, (३) राग; (४) द्वेष; (५) अभिनिवेश। इन पाँचों को पंचक्लेश भी कहते हैं। विष्णु-पुराण में इन पंचक्लेशों के नामान्तर क्रम से इस प्रकार दिये गये हैं—

तमोमोहो महामोहस्तामिस्त्रोह्यन्धतामिश्र संज्ञितः।
अविद्या पञ्च पर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः

अवान्तर भेद से ये ६२ प्रकार के हैं। सांख्य-स्मृति में कहा है—

भेद स्तमसोऽष्टविधो मोहस्यच दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रम्।

अर्थात् तम (अविद्या) के आठ भेद हैं; मोह (अस्मिता) के भी आठ भेद हैं; महामोह (राग) के दश भेद हैं; तामिस्र (द्वेष) के अष्टादश भेद हैं, अंधतामिस्र (अभिनिवेश) के भी अष्टादश भेद हैं।

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द; स्पर्श, रूप रस, गंध रूप विषय—ये आठ प्रकृति-विकृति रूप अनात्म पदार्थों में जो आत्म बुद्धि रूप अज्ञान है वही तम कहा जाता है।

गौण फलस्वरूप अणिमादि अष्ट सिद्धि रूप ऐश्वर्य में ही जो मुख्य पुरुषार्थ रूप बुद्धि है वह अस्मिता (मोह) कही जाती है।

आठ प्रकार के ऐश्वर्य को सम्पादन कर शब्दादि पंचलौकिक तथा दिव्य विषय भेद से दस प्रकार का राग (महामोह) है।

उक्त विषयों के भोग में किसी प्रतिबंधक के होने से तद्विषयक द्वेष द्वेषतामिस्र कहा जाता है। यह भी अष्टविध अणिमादि और दशविध विषयों की अप्राप्ति से अष्टादश प्रकार का होता होता है।

अष्टविध अणिमादि तथा दशविध विषयों की प्राप्ति होने पर भी यह भय मन में होता है कि कालान्तर में सब कुछ नष्ट हो जायगा। इसे अभिनिवेश (अन्धतामिस्र) कहते हैं।

जो ज्ञान वस्तु से शून्य हो अर्थात् मिथ्या हो, किन्तु शब्द-ज्ञान के प्रभाव से मिथ्या पदार्थ के आकार से ही उत्पन्न हो जाता है उसे विकल्प वृत्ति कहते हैं।

उदाहरण के लिए, राहु का शिर, लोहेका गोला, गौ आदि। यहाँ राहु तथा शिर दोनो अभिन्न हैं, किंतु भेद रूप से दो भासते हैं। दाह करना अग्नि का धर्म है तथापि अभेद से लोग लोहे के गोले को भी दाहक कहते हैं। इसी प्रकार 'गौ' शब्द जो कंठ, तालु, आदि के संयोग से उच्चरित तथा श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य है, गौशाला में स्थित पशुविशेष के लिए भी व्यवहार मेंआता है तथा उक्त पशु-विशेष को देखने से चित्त का तदाकार रूप परिणाम भी कहा जाता है। 'गौ' शब्द मुख में 'गौ' पदार्थ गौशाला में और 'गौ' का ज्ञान अंत:करण में है, किंतु इन तीनों का एक सा ही भान होता है। इसी का नाम शब्द, अर्थ, ज्ञान विकल्प है।

विपर्यय ज्ञान का साधारण लोगों को भी बोध हो जाता है, किन्तु विकल्प ज्ञान तो प्राय: विद्वान् ही को होता है। इसी कारण हमने विकल्प वृत्ति को विपर्यय वृत्ति से पृथक कथन किया है।

चौथी निद्रा वृत्ति है। इसके सम्बन्ध में सूत्रकार लिखते हैं—'अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिनिद्रा।' अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव होने से जो प्रत्यय, ज्ञान होता है उसका आलम्बन, आश्रय ग्रहण करने वाली मनोवृत्ति को 'निद्रा' कहते हैं। इसी मनोवृत्ति का दूसरा नाम सुषुप्ति अवस्था है। इस वृत्ति-विशिष्ट पुरुष को ही सुषुप्त और अंत: प्रज्ञ कहते हैं

श्रुति का कथन है—

सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोभिभूत: सुखमेति

\+ \+ \+

ज्ञानानामुपसंहारे बुद्धे: कारणता स्थिति:।

बटवीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते।

अर्थात् सुषुप्ति काल में सकल बाह्याभ्यंतर इन्द्रियों का लय हो जाने पर केवल तमोगुण प्रधान अज्ञानोपहित पुरुष अपने सुख रूप में स्थित होता है। जैसे वट के बीज में अव्यक्त रूप से या कारण रूप से वट वृक्ष स्थित होता है, वैसे सकल बाह्य ज्ञानों के अभावपूर्वक बुद्धि आदि की अज्ञान में जो स्थिति होती है उसी को सुषुप्ति कहते हैं।

सुषुप्ति और समाधि में थोड़ा सा अंतर है—सुषुप्ति काल में मन का स्वकारण अज्ञान में लय होता है और समाधि में मन निगृहीत होता है। अर्थात् सुषुप्ति में तमोगुण प्रधान अविद्या में मन विलीन होता है और समाधि में अविद्या, अनर्थ से रहित पुरुष के निज रूप में मन अवस्थित हो जाता है।

छांदोग्योपनिषद् कहता है—

"सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति",

अर्थात् जिस समय गाढ निद्रा होने से पुरुष सुषुप्त हो जाता है, उस समय जीव सद्रूप ब्रह्म से मिलकर एकीभूत हो जाता है।

बृहदारण्यक कहता है—

प्राज्ञेनात्मनापरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरम्।'

अर्थात् जैसे कामी पुरुष अपनी प्रिया स्त्री के साथ आलिंगन कर के विषय सुख में मग्न होकर बाहर भीतर के पदार्थों को नहीं जानता है वैसे ही सुषुप्ति काल में जीव भी अपने प्रज्ञान घन स्वरूप से आलिंगित और एकीभूत होकर निज स्वरूपभूत आनन्द में मग्न हो बाह्य और आंतर पदार्थों को नहीं जानता है। यहाँ चित्तोपाधिक जीवात्मा का बीजरूप में अवस्थान-कथन द्वारा उपाधिभूत मन का लय बोधित किया है। सुषुप्ति में मन आदि का लय होने से ही पुराणों में इसको नित्य प्रलय कहा गया है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है—उक्त श्रुतियों में शुद्ध ब्रह्म ही में जीव का लय निरूपित किया गयाहै, फिर भी अज्ञानोपहित

चेतन ही में जानना उचित है, क्योंकि अन्यथा मुक्ति और सुषुप्ति के समान होने से सुषुप्त पुरुषों के सदृश मुक्त पुरुषों का पुनर्जन्म अथवा मुक्ति से भी पुनरुत्थान का प्रश्न खड़ा होगा।

योग में सत्कार्य्यवाद का अंगीकार होने से सूक्ष्म रूप से कारण में स्थित होने का ही नाम लय कहा जाता है। यद्यपि स्थूल मन का सुषुप्ति में अभाव हो जाता है तथापि कारणभूत अविद्या रूप से वह मन विद्यमान ही रहता है। इसी कारण सूत्रकार ने सुषप्ति को मन की वृत्ति कहा है।

इन्द्रिय तथा अनुमानादि प्रमाण के बिना केवल वृत्ति मात्र द्वारा ही चेतन जिसका प्रकाश करे उसको साक्षिभास्य कहते हैं। साक्षिभास्य स्थल में पद्मपाचार्य्य ने 'अहं अहं' इत्याकार अंतः-करण की वृत्ति मानी है। सर्वज्ञात्म मुनि ने भी प्रतिभासिक ज्ञान स्थल में अविद्या की वृत्ति मानी है।

यहाँ यदि सुषुप्ति में निखिल वृत्तियों का अभाव मानें तो निद्रा से जागने पर जो पुरुष को यह स्मरण होता है कि मैं सुख से सोया, और कुछ नहीं जाना, यह अनुपपन्न हो जायगा।

जिस निद्रा में सत्वगुण के लेश सहित तमोगुण का प्रचार होता है उससे जागने पर 'मैं सुख से सोया था, यह ज्ञान पुरुष को होता है।

जिस निद्रा में रजोगुण के लेशसहित तमोगुण का संचार होता है उससे जागने पर 'मैं दुःख पूर्वक सोया, यह ज्ञान पुरुष को होता है।

जिस निन्द्रा में केवल तमोगुण की प्रबलता होती है उससे जागने वाले पुरुष को 'मैं खूब गाढ़ निद्रा से मूढ होकर सोया' इस प्रकार का ज्ञान होता है।

यदि सुषुप्तिकालीन सुखादि विषयों का अनुभव न मानें तो जागने वाले पुरुष को उक्त तीन प्रकार का जो स्मरण होता है वह उपपन्न नहीं रह जायगा।

उक्त तीन प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष तो है नहीं, स्मृति रूप है। किंतु स्मृति अज्ञात विषय की नहीं हो सकती। अतः निद्रा को वृत्त्यभाव न मान कर वृत्तिविशेष ही मानना उचित है।

नैयायिकों को जो यह भ्रम था कि सुषुप्ति-काल में ज्ञान के साधन इंद्रियों के अभाव से और जाग्रत काल में स्मृति के न होने से सुषुप्ति में अखिल ज्ञानों का अभाव होता है, वह भी उक्त रीति के विचार से नष्ट हो जाता है; सुषुप्ति में अविद्या अथवा सूक्ष्म मन की वृत्ति के मानने से ज्ञान के साधन का अभाव रूप हेतु असिद्ध है तथा स्मृति के सद्भाव से स्मृति का अभाव रूप हेतु भी असिद्ध है।

निद्रा एक प्रकार की एकाग्रता होने से योग की विरोधनी नहीं है। हां, तमोगुण प्रधान सबीज निद्रा निर्बीज समाधि की विरोधनी होती है और इतर वृत्तियों के समान निरोधनीया है।

गौड़पादाचार्य्य ने कहा है—

'उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा।

अर्थात विषय-भोग में प्रवृत्ति द्वारा विक्षिप्त और श्रम के अभाव से निद्रा में प्राप्त प्रसन्न दोनों ही प्रकार के मन का अभ्यासादि उपाय से निग्रह करना उचित है; क्योंकि जैसे विक्षिप्त मन अनर्थ का हेतु है वैसे ही लय से प्रसन्न मन भी है।

तात्पर्य्य यह है कि सुषुप्ति में सबीज अज्ञानोपहित चेतन में मन लीन होता है और समाधि में शुद्ध निर्बीज ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित होता है। अतः उसे लय से निवृत्त करके शुद्ध ब्रह्म स्वरूप में स्थित करना चाहिए।

पाँचवीं वृत्ति स्मृति है। सूत्रकार कहते हैं—

'अनुभूत विषयाऽप्रमोषः स्मृतिः'

अर्थात् पहले जिस विषय का ज्ञान हो चुका हो, फिर उसी के स्फुरणपूर्वक तन्मात्रज्ञान को स्मृति कहते हैं। यद्यपि मन में अनेक प्रकार के संस्कार विद्यमान रहते हैं, तथापि जिसकी उद्बोधक सामग्री प्रबल होती है, वही संस्कार स्मृति को उत्पन्न कर सकता है। वह उद्बोधक सामग्री कहीं तो मन की एकाग्रता, कहीं अभ्यास, कहीं सहचार, कहीं विरोधी ज्ञान, कहीं स्नेहादि होती है।

अनुभव से स्मृति में यह भेद है कि अनुभव अज्ञात वस्तु का हुआ करता है और स्मृति ज्ञात पदार्थ ही की हुआ करती है। सूत्रकारने 'अप्रमोष' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे उनका आशय यह है कि जितना विषय अनुभव से प्रकाशित हुआ है

उससे अधिक का स्मृति प्रकाश नहीं कर सकती। यदि वह करे तो चोर कही जायगी।

जहाँ अधिक विषय का ग्रहण नहीं होता, न्यून विषय का होता है वहां प्रमुष्ट तत्ताक स्मृति होती है। उदाहरण के लिए, वह मेरी माता, यह स्मृति न होकर 'हाय मेरी मां' केवल यही स्मृति हो तो उसे 'प्रमुष्ट तत्ताक स्मृति कहेंगे।

यद्यपि ज्ञान विषयक अनुभव के अभाव से विषय की ही स्मृति होनी चाहिए तथापि पूर्वानुभव के ग्राह्य ग्रहण उभयाकार-विशिष्ट होने से तज्जन्य संस्कार भी उभयाकार-संयुक्त होकर ग्राह्य ग्रहण उभय रूप ही स्मृति को उत्पन्न करता है। अतः ज्ञान सहित विषय की ही स्मृति होती है, न केवल ज्ञान की न केवल विषय की, न केवल ग्राह्य की, न केवल ग्रहण की।

यह स्मृति दो प्रकार की है—(१) भावित स्मर्तव्या; (२) अभावित स्मर्तव्या।

भावित स्मर्तव्या स्मृति मिथ्या पदार्थविषयक स्वप्नावस्था में होती है।

अभावित स्मर्तव्या स्मृति यथार्थ पदार्थविषयक जाग्रत अवस्था में होती है।

स्वप्नमानस-विपर्य्यय ज्ञान विशेष ही है, स्मृति नहीं है। स्मृति मानने से स्वप्न में जो यह ज्ञान होता है कि यह घोड़ा दौड़ता है, सो अनुपपन्न होगा। क्योंकि ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षस्थल ही में हुआ करता है, स्मृति स्थल में नहीं। स्मृति स्थल में तो

'वह घोड़ा' इस प्रकार ही ज्ञान होना उचित है। क्योंकि ऐसा ही स्मृति का आकार हुआ करता है। एवं स्वप्न के पश्चात् प्रबुद्ध पुरुष को जो यह स्मृति होती है कि मैंने राजा को देखा, सो भी अनुपपन्न होगा, क्योंकि स्मृतिवादी के मत में 'मैंने स्मरण किया था', इस प्रकार स्मृति की सम्भावना हो सकती है। इस प्रकार स्वप्न को स्मृति न मान कर स्वप्न में नवीन गतिभासित पदार्थ की मनोमयी सृष्टि और मिथ्यादि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यही मानना समीचीन है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

न तत्र रथान रथयोगा न पन्थानो
भवन्त्यथ रथान् रथ योगान् पथः सृजते।

अ० ४ ब्रा० ३

इस श्रुति में नवीन ही प्रतिभासित सृष्टि की उत्पत्ति कही गयी है। तथापि भाष्यकारों ने संस्कारजन्य स्वरूप सादृश्य का आश्रय लेकर स्मृतिवत् स्वप्न ज्ञान को भी स्मृति कहा है, कुछ साक्षात् स्मृति नहीं कहा है तथा असन्निहित विषयता की दृष्टि से भी स्वप्न तथा स्मृति को सदृश कहा है; कुछ वस्तुगत्या वह स्मृति नहीं है। अतएव इस भाष्य के व्याख्यान में वाचस्पति मिश्र ने स्वप्न को विपर्यय ज्ञान माना है, स्मृति नहीं माना है।

शारीरक सूत्र में कहा है—

वैधर्म्याच्चन स्वप्नादिवत् २।२।२९

इस पर शांकर भाष्य* इस प्रकार है--"स्वप्न और जाग्रदवस्था के प्रत्ययों में वैधर्म्य है, इस कारण स्वप्नादि के समान जाग्रदवस्था के ज्ञान हों, यह युक्त नहीं है। किंतु वह वैधर्म्य क्या है? इसका उत्तर है— बाध और अबाध। स्वप्न में उपलब्ध हुई वस्तु जाग्रत होने पर बाधित हो जाती है कि महाजन समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। किन्तु जाग्रदवस्था में उपलब्ध स्तम्भादिक वस्तु किसी भी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होती। स्वप्न में जो दर्शन होता है वह स्मृति है और जाग्रदवस्था में जो दर्शन होता है वह उपलब्धि है। स्मृति और उपलब्धि में यह प्रत्यक्ष भेद है कि स्मृति में पदार्थ-विप्रयोग है और उपलब्धि में पदार्थ-सम्प्रयोग है। मैं इष्ट पुत्र का स्मरण करता हूँ, उसको उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाहता हूँ,—इस प्रकार स्वप्न स्मृति है और जाग्रत उपलब्धि है।

प्रमाणादि सर्व वृत्तियां सुख दुःख तथा मोह, क्लेश रूप हीं

---

* अत्रोच्येत न स्वप्नादिप्रत्ययवज् ज्ञात्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति कस्मात् वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न जागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यं? बाधाबाधविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रति वृद्धस्यमिथ्या मयोपलब्धो महाजन समागम इति। नह्यस्ति मम महाजन समागमो निद्रा ग्लानं तु मे मनो बभूव। तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूव। एवं भाषादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। न चैवं जागरितोपलब्धं वस्तुस्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्न दर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरित दर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थ विप्रयोग संप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि पलभे उपलब्धुमिच्छामि।

हैं, अतः इनका निरोध करना ही योग्य है। इन पाँच प्रकार की वृत्तियों के निरोध ही से अन्य सर्व प्रकार की वृत्तियां स्वयं निरुद्ध हो जाती हैं और सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

पंचम अध्याय

साधकों की श्रेणियाँ

साधकों को यह अवश्य ही याद रखना चाहिए कि जब साधक साधनों में प्रवृत्त होता है तो देवता प्रलोभन दिखला कर विघ्न उपस्थित करते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिए।

योगशास्त्र का सूत्र है —

'स्थान्युपनिमंत्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात्।

यो० सू० ५१

अर्थात् इन्द्रादि देवताओं के सत्कारपूर्वक प्रार्थना करने पर उनके कथन में संग तथा आश्चर्य्य न करे, क्योंकि फिर अनिष्ट प्राप्त हो जायगा। जब देवगण भोग का निमंत्रण दें तो न उनके कथन को माने और न अभिमान करे।

साधक चार प्रकार के होते हैं—(१) प्रथमकल्पिक, (२) ऋतुम्भरा प्रज्ञा वाले; (३) संस्कार शेष; (४) विशोक

जो साधक प्रवृत्त मात्र ज्योति है, अर्थात् संयम में तत्पर होने से परचित्त के ज्ञानादि सिद्धियों के उन्मुख है वह प्रथम-कल्पिक साधक है।

जो पञ्चभूत तथा इन्द्रियों को जीतने की इच्छा वाला है वह ऋतुम्भरा प्रज्ञावाला अथवा मधुप्रतीका भूमिका साधक है।

जिसने पूर्वोक्त संयम से भूत तथा इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, जो परचित्त ज्ञानादि सिद्धियों वाला है और विशोकादि सिद्धियों के लिए यत्नशील है वह प्रज्ञाज्योति साधक है।

जिस साधक को असंप्रज्ञात समाधि द्वारा केवल मन का विलय रूप कर्त्तव्य ही शेष रहा है, अन्य किंचित भी कर्त्तव्य शेष नहीं है वह विशोक कहा जाता है।

रजतम—आधिक्य जन्य मनोमल के अभाव से विवेक-ख्यातिनिष्ठ साधक के मन में सात प्रकार की प्रज्ञा प्राप्त होती है।

(१) निखिल त्याज्य संज्ञक संसार परिणाम दुःखादि से युक्त है, यह मैंने ठीक ठीक जान लिया। अब कुछ त्याज्य विषयक जानना नहीं है।

(२) त्याज्य के कारण मेरे अविद्यादि क्लेश क्षीण हो गये हैं।

(३) असंप्रज्ञात समाधि द्वारा मैंने मोक्ष भी प्रत्यक्ष कर लिया है।

(४) ज्ञान का उपाय रूप विवेकख्याति भी मैंने प्राप्त कर ली है।

(५) भोग और मोक्ष रूप पुरुषार्थ के प्राप्त होने से मेरी बुद्धि समाप्त अधिकारवाली हो गई है।

(६) पर्वत के शिखर से नीचे गिरे हुए खंड खंड होनेवाले पाषाणों की तरह मेरे सत्त्वादि तीन गुण मन रूप आश्रय के नाश से निराधार और स्वकारण प्रकृति में लयाभिमुख होकर मन सहित लीन हो गये हैं।

(७) गुणों के सम्बन्ध से रहित और स्वरूप मात्र ज्योति-स्वरूप निर्मल होकर मेरा आत्मा केवल तथा जीवन्मुक्त हो गया है।

इन सात प्रकार की प्रज्ञा से युक्त साधक अतिक्रान्त भाव-नीय विशोक कहे जाते हैं।

उक्त चारों प्रकार के साधकों में से प्रथम कल्पिक साधक से तो इन्द्रादि देवता प्रार्थना कर नहीं सकते, क्योंकि अभी वह साधन में प्रवृत्त है।

तीसरी कोटि का साधक भूतेन्द्रियजयी होने के कारण स्वयं ही अणिमादि ऐश्वर्यों से युक्त है, अतः देवता उसे प्रलोभन नहीं दे सकते।

चौथी कोटि का अतिक्रान्त भावनीय साधक पर वैराग्यशील होने के कारण किसी की भी परवा नहीं करता।

इस परिशेष से ऋतुम्भरा प्रज्ञावाला दूसरी कोटि का साधक ही देवताओं से प्रलोभन पात्र करनेवाला होता है। क्योंकि एक ओर तो उसमें पर वैराग्य का अभाव है, दूसरी ओर

उसे ऐश्वर्य की प्राप्ति सिद्ध नहीं है। अतः मधुप्रतीका भूमि का साक्षात्कार करनेवाली दूसरी कोटि के साधक की बुद्धि की शुद्धि को देखने इन्द्रादि देव उसके पास आकर स्वर्गीय विमान अप्सरा प्रभृति दिखलाकर इस प्रकार सत्कारपूर्वक प्रार्थना करते हैं— "हे साधक, आप यहाँ स्थित होवें, यहाँ ही स्मरण करें, देखिए यहाँ कैसे सुन्दर भोग हैं! ये कैसी कमनीय अप्सराएँ हैं यह कैसी दिव्य औषधि है जो जरा और मृत्यु को दूर करती है! आदि।

इस प्रकार देवताओं के कथन से लोभयुक्त होकर साधक उनकी बातों का विश्वास न करे, संग न करे, किन्तु संग-दोष की भावना करे। वह अपने मन में विचार करे कि महान् पुण्य के प्रभाव से मुझको इस योग रूप दीपक का लाभ हुआ है उसके प्रकाश से वंचित हो कर क्यों अपने को संसार के विषय-रूप अग्नि में अपने को काष्ठ के समान जलाऊँ। आप को तथा स्वप्न के समान अप्सरादि विषयों को मैं नमस्कार करता हूँ। आपका कल्याण हो।

इस प्रकार विषयों में दोषदृष्टि रखे और विस्मय भी न करे, क्योंकि ऐसा गर्व करने से साधक अपने आपको कृतकृत्य मान कर, स्वयं को मृत्यु-गृहीत न समझ कर अभ्यास से उपराम हो जायगा।

जब उक्त प्रकार से संग और विस्मय न करेगा तो साधक वैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर विशोक तथा जीवन्मुक्त हो जायगा।

जैसे स्वाभाविक क्षुधा और निद्रा को उपवास और जागरण द्वारा जीत ही लेते हैं वैसे ही वृत्तियों को भी जीत सकते हैं, जैसे शाक, सूप, ओदन, शैया आदि के समीप न होने से क्षुधा और निद्रा का नियंत्रण होता है वैसे ही स्रक्, चंदन और वनिता आदि के त्याग से वृत्तियों का भी नियंत्रण हो सकता है और जैसे क्षुधा निद्रा आलस्यादिक के जीतने के लिए पुराण-श्रवण, देवपूजा, नृत्यजीत-वादित्रादि से सहायता मिलती है वैसे ही वृत्तियों के जीतने के लिए भी वैराग्यादि उपायों से, जो शास्त्रों में कहे गये हैं, शक्ति प्राप्त होती है।

षष्ठ अध्याय

वैराग्य और अभ्यास

योगसूत्र में कहा है—

'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'

अर्थात् मन की वृत्तियों का रोकना अभ्यास और वैराग्य से होता है।

मन की स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाहशीलता वैराग्य से निवृत्त होती है और आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाहशीलता अभ्यास से स्थिर होती है।

मन रूपी नदी के दो प्रवाह हैं—(१) कल्याणवह; (२) पापवह।

मन का जो प्रवाह आत्मानात्मविवेक रूप मार्ग से बहता हुआ मोक्ष पर्यन्त पहुँचाकर विश्रान्त होता है उसे कल्याणवह प्रवाह कहते हैं।

मन की वृत्ति का जो प्रवाह अविवेक रूप मार्ग से बहता हुआ विषय-भोग-पर्यन्त विश्रान्त होता है, उसे पापवह प्रवाह कहते हैं।

इन दोनों में से विषय भोग रूप पापवह प्रवाह विषयों में दोषदृष्टि रूप वैराग्य से निरुद्ध होता है और विवेक रूप कल्याणवह प्रवाह विवेक ज्ञानाभ्यास द्वारा उद्धारित होता है।

समाधि की उत्पत्ति में अभ्यास और वैराग्य दोनों ही का समुच्चय सहायक जानना चाहिए। अकेले अभ्यास या अकेले वैराग्य से मन का निरोध नहीं होगा। यद्यपि केवल वैराग्य से ही बाह्यवृत्ति निरोधपूर्वक मन की अन्तर्मुखता हो सकती है, तथापि अन्तर्मुखता की स्थिरता के लिए अभ्यास भी अपेक्षित ही है।

कठिनाई से वश में आने वाले मन के निग्रह के सम्बन्ध में वशिष्ठ जी ने श्री रामचन्द्र से कहा है—

"वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्वावबोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर ॥

अर्थात हे राम वैराग्य और अभ्यास द्वारा मन को वश में करने से तथा तत्त्वज्ञान से संसार-सागर तरा जाता है। अतः अभ्यासादि यत्नपूर्वक करो।

सांख्यशास्त्र में कपिल भगवान ने भी कथन किया है कि मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य ही से होता है।

गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

अर्थात् दुर्निवार मन अभ्यास और वैराग्य से वश में लाया जाता है।

अब अभ्यास का निरूपण करते हैं। सूत्र है—

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'

अर्थात् राजस तामस वृत्ति-शून्य मन की शान्तवाहिता अर्थात् सात्त्विक वृत्ति की प्रवाहशील निर्मलता नाम की स्थिति के लिए मन के उत्साह-सहित यम नियमासन प्राणायामादि, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह आदि का अभ्यास करना चाहिए।

अस्तेय, चोरी के अपराध के सम्बन्ध में एक आख्यायिका है कि बाहुदा नदी के तीर पर दो तीन कोस की दूरी पर शंख स्मृति एवं लिखित स्मृति के कर्ता सहोदर शंख और लिखित नाम के दो भाई रहते थे। एक दिन छोटा भाई लिखित बड़े भाई शंख से मिलने के लिए उनके आश्रम में गया। शंख कहीं गये थे। लिखित को प्यास लग रही थी। वहां बेरी के वृक्ष थे, उनमें बेर लग रहे थे और कुछ वायु से

झड़ कर नीचे भी पड़ गये थे। लिखित ने सोचा कि इन बेरों पर यदि किसी का स्वत्व है तो मेरे बड़े भाई ही का है, इन्हें खाने में कुछ चोरी नहीं है। उसने फल खा लिए और कुंड से पानी पी लिया। इतने में शंख आ गये। उन्होंने जलपान के लिए पूछा। लिखित ने सब हाल सुना दिया। शंख ने कहा, "यद्यपि मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ, तथापि तुमने मुझसे बिना पूछे फल खाये हैं, इसलिए चोरी की है।। सुधन्वा राजा के पास दंड लेकर अपराध से मुक्त बनो।"

शंख की आज्ञा से लिखित राजा सुधन्वा के पास गया। उससे सब वृत्तांत सुन कर राजा ने कहा, "आप हमारे गुरु हैं, मैंने आप को क्षमा किया।"

लिखित ने कहा, "लेकिन यमराज तो मुझे क्षमा नहीं करेंगे। अत: आप मेरे हाथ काट कर मुझे दंड दीजिए।"

राजा ने वैसा ही किया।

दंड भोग कर लिखित शंख के पास गया। शंख ने कहा, "कमंडल के जल से हाथ धो डालो।"

लिखित ने ज्यों ही हाथ धोये त्यों ही वे ज्यों के त्यों हो गये।

'चोरी का दंड क्षमा करने की शक्ति मुझमें नहीं थी, वह यमराज के अधिकार की बात थी'—शंख ने लिखित से कहा।

इस आख्यायिका से साधक को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

अभ्यास में अद्भुत शक्ति है। कठिन से कठिन कर्म्म क्रमशः अभ्यास करने से सरल हो जाते हैं।

मुमुक्षु भी चित्त की स्थिरता के लिए यदि अभ्यास करेगा तो उसका उद्देश्य अवश्य सिद्ध होगा।

यह अभ्यास मुमुक्षु को कब तक करना चाहिए?

सूत्र है—

'महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम्।'

+ + +

'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्काराऽसेवितो दृढ़ भूमिः।'

अर्थात यदि अभ्यास-वृक्ष का परम फल प्राप्त करना है तो प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, तितिक्षा, धैर्य्य युक्त प्रणव के जपादि साधन सहित सादर निरन्तर चिरकाल पर्यन्त अनुष्ठान किया जाय तो वह दृढ़ हो कर कभी व्युत्थान से बाधित नहीं होता।

अनादि काल से मन विषय-भोग-वासनाजन्य व्युत्थान संस्कारों से चंचलता का ही अभ्यास करता चला आता है, इससे चंचलता मन का स्वाभाविक धर्म्म हो गया है। अतः दीर्घकाल के अभ्यास से ही वह स्वाभाविक चंचलता निवृत्त हो सकती है। जैसे किसी पर्वत की गुफा में बहुत काल का अंधेरा हो तो भी दीपक के प्रकाश से नष्ट हो जाता है वैसे ही अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है।

एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र को किसी विद्वान् के पास वेद पढ़ने को भेजा था। जब उसे गये सात-आठ दिन हो गये तो

वह लोगों से कहने लगा कि वेद तो चार ही हैं, यदि एक एक दिन में एक एक वेद समाप्त हो जाय तो चार दिन में चारों वेद समाप्त हो सकते हैं। फिर समझ में नहीं आता कि सात आठ दिन कैसे लग गये ?

यदि उक्त ब्राह्मण ही की तरह मुमुक्षु भी दो वर्ष तक साधना करने के अनन्तर कहने लगे कि इतने दिन अभ्यास करते हो गये तो भी अभी मोक्ष नहीं मिलता, तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है ?

श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है—

'सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विरण्ण चेतसा ।'

अर्थात् खेदरहित होकर दृढ़ निश्चयपूर्वक योग का अनुष्ठान करना चाहिए।

गौड़ पादाचार्य्य ने कहा है—

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैक विन्दुना ।
मनसोनिग्रहस्तद्वत् भवेदपरिखेदतः ।

—प्र० ४ श्लो० ४१

अर्थात् जैसे टिट्टिभ पक्षी ने कुशा के समान अग्रभाग वाली चोंच द्वारा एक एक बूँद से समुद्र का उत्सेक करने का निश्चय किया था, वैसे ही खेद से रहित निश्चय द्वारा ही मन का निग्रह होता है, खेद से नहीं।

मन के निरोध का दूसरा उपाय वैराग्य कहा गया है। उसके कई भेद हैं—(१) मन्द वैराग्य; (२) कारण वैराग्य;

(३) यतमान वैराग्य; (४) व्यतिरेक वैराग्य; (५) एकेन्द्रिय वैराग्य; (६) वशीकार वैराग्य; (७) पर वैराग्य या तरतीव्र वैराग्य।

(१) श्मशान में किसी मुरदे को जलाते समय क्षण भर के लिए जो वैराग्य होता है उसे मंद वैराग्य कहते हैं।

(२) पुत्र-स्त्री के मरने, धन आदि के नष्ट होने से जो वैराग्य हो जाया करता है वह भी थोड़े दिन का होता है। इसे कारण वैराग्य कहते हैं। कारण वैराग्य से केवल राजा भर्तृहरि को मोक्ष की प्राप्ति हुई।

वशीकारादि अन्य वैराग्य से भी पूर्णतया कार्य्य की सिद्धि नहीं होती। वास्तव में पर वैराग्य ही से सफलता प्राप्त होती है। कहा है—

वैराग्यंच मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः।

अर्थात् जिस पुरुष में वैराग्य और मोक्ष की इच्छा तीव्र होती है, उसी पुरुष को शमदमादि साधन सार्थक होकर मोक्ष रूप फल देते हैं। कहा है—

'एतयोर्मंदतायत्र विरक्तत्त्व मुमुक्षयोः।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादे भान मात्रता।'

अर्थात् जिस पुरुष में वैराग्य तथा मोक्ष दोनों की इच्छा मंद है, उस पुरुष में शमादि साधन मरुदेश के जल के समान

देखने मात्र के लिए होते हैं अथवा मृगतृष्णा के जल समान कुछ भी लाभ नहीं दे सकते है।

आपात वैराग्यवतो मुमुक्षून् भुवाब्धि पारं प्रतियातुमुद्यतान् ।
आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले निगृह्य कंठे विनिवत्य वेगात् ।

अर्थात् मंद वैराग्यवाले जो मुमुक्षु भवसागर को पार करने के लिए उद्यत हुए हैं उनको विषयों का आशापाश तीव्र वेग से कंठ पकड़ कर उलटा संसार के बीच में ही डुबा देता है। अतः तीव्र वैराग्य रूप तलवार से जन्ममरण-रूप बंधन का छेदन करना उचित है।

शिरो विवेक मत्यन्तं वैराग्यं वपुरुच्यते ।
शमादयः षडङ्गानि मुमुक्षा प्राणरुच्यते ॥
आरूढ़स्य विवेकाश्वं तीव्र वैराग्य खड्गिनः ।
तितिक्षा वर्म युक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते ॥

अर्थात् सर्वसाधकों में विवेक मस्तक है, वैराग्य शरीर अर्थात् धड़ है; शमदम षट् अंग हैं तथा मुक्ति की इच्छा प्राण है।

विवेक रूप घोड़े पर बैठनेवाले, हाथ में वैराग्यरूपी तलवार वाले तथा तितिक्षा रूपी कवच धारण करनेवाले का कोई शत्रु ही दिखाई नहीं देता।

नोऽकस्मादार्द्र मेघः स्पृशतिचदहनः किन्तु शुष्कं निदाघा—
दार्द्रं चेतोऽनुबन्धैः कृतसुकृतमपि स्वोक्त कर्म प्रजार्थैः ।
तद्वज्ज्ञानाग्निरेतत् स्पृशति न सहसा किन्तु वैराग्य शुष्कम् ।
तस्माच्छुद्धो विरागः प्रथममभिहितस्तेन विज्ञान सिद्धिः ।

अर्थात् जैसे गीली लकड़ियों को अग्नि एकाएक नहीं जला सकती, किन्तु धूप में सुखायी हुई लकड़ियों को शीघ्र ही जला डालती है वैसे ही अपने अपने वर्ण तथा आश्रम धर्म के पालन से तथा पुत्रादि और धन सम्बन्धी वासनाओं से जो मन ग्रस्त हैं, उसको ज्ञान एकाएक नहीं प्राप्त होता, वह तो वैराग्य के कारण शुष्क अर्थात् वासना-रहित मन को ही शीघ्र पकड़ता है। अतः सबसे पहले शास्त्रकारों ने शुद्ध वैराग्य को ही मनोनिग्रह का साधन कहा है।

परतंत्र,❀ नश्वर तथा दुःखप्रद होने के कारण इस लोक तथा परलोक के विषय त्यागने ही योग्य हैं।

वैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा है; तीव्र वैराग्य के उत्पन्न होने पर मोक्ष-प्राप्ति में कुछ भी विलम्ब नहीं होता है।

वह पक्षी सुख से उड़कर नदी के उस पार जा सकता है जिसके दोनों पंख विद्यमान हैं, वैसे ही वह साधक शीघ्र ही संसार को पार कर मोक्ष को प्राप्त होता है जिसमें अभ्यास और वैराग्य दोनों हैं।

जो पुरुष अभ्यास तथा वैराग्य करने में असमर्थ हैं उनके लिए मन के निरोधक अन्य उपाय भी हैं, जो यहां नीचे लिखा जाता है।

सूत्र है —

'ईश्वर प्रणिधानाद्वा,

अर्थात् फल कामना रहित होकर मानसिक, वाचिक और कायिक समस्त व्यापारों को ईश्वरार्पित समझना, ईश्वर के ध्यान

❀ विशेष विवरण के लिए योग वाशिष्ठ का प्रथम प्रकरण देखिए।

में मग्न होना, उनके नाम जप का करना—इस ईश्वर प्रणिधान, भक्ति का आश्रय लेना चाहिए।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्व धर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच॥

अर्थात् इस प्रकार की भक्ति विशेष से आवर्जित अथवा प्रसन्नतापूर्वक अभिमुख होनेवाला ईश्वर अभिध्यान, संकल्प मात्र से, मेरे इस भक्त को शीघ्र ही समाधि की प्राप्ति हो, ऐसा अनुग्रह साधक भक्त के ऊपर कर देता है। कहा भी है—

'स्वाध्यायादि इष्ट देवता सम्प्रयोगः'

अर्थात् जप करने से इष्ट देवता का साक्षात् दर्शन होता है तथा मोक्ष रूप फल की सिद्धि भी शीघ्र ही हो जाती है।

तथा चोक्तम्—

न वासुदेव भक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।
यथा हि लोके बलवन्तं राजानमाश्रित्य दस्यवो निगृह्यन्ते

अर्थात् जैसे राजा के आश्रित किसी व्यक्ति को जानकर चोर स्वयं ही उसके वश में हो जाते हैं वैसे ही भगवान अन्तर्यामी के आश्रित होने से ही, उसके प्रभाव से ही दुष्ट इन्द्रियां भी वश में हो जाती हैं।

ईश्वर-प्रणिधान से अनेक विघ्नों का नाश हो जाता है। सूत्र है—

"व्याधि स्त्यायन संशय प्रमादालस्याऽविरति भ्रान्ति दर्शना-लब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।"

अर्थात् व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, ज्ञान या समाधि के साधनों में उत्साह का अभाव, आलस्य, विषयों के प्रति वैराग्य का अभाव, विपर्य्ययज्ञान—अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य प्रकार का ज्ञान, किसी प्रतिबन्धक के कारण मधुमती, मधुप्रतीका आदि भूमिकाओं का लाभ न होना, किसी योग-भूमिका का कथञ्चित् लाभ होने पर भी उसमें मन की निरंतर स्थिति का अभाव—इन सब बाधाओं का निवारण ईश्वर नाम का जप करने से हो जाता है।

अब उन साधनों को भी जानने की आवश्यकता है जिनके अनुष्ठान से मन के रागद्वेषादि मल की निवृत्ति होती है और मन प्रसन्न होकर ईश्वर प्रणिधान की योग्यतावाला हो जाता है। सूत्र है—

'मैत्री करुणामुदितो-पेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य
विषयाणां भावनातः चित्त प्रसादनम् ।"

अर्थात सुखी-दुखी, पुण्यात्मा-पापी पुरुषों में यथाक्रम से मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा—इन धर्म्मों की भावना के अनुष्ठान से मन को निर्मल करे।

श्री भगवान् ने कहा है -

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रःकरुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः सम दुःख सुखः शमी ।

इस प्रकार इन चारों भावनाओं को करने से शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् मन निर्मल हो जाता है।

राग-द्वेष, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, अमर्ष संज्ञक राजस-तामस रूप ये षट् अधर्म्म मन को विक्षिप्त कर मलिन कर देते हैं; अतः ये मन के षट् मल कहे जाते हैं। इन षट् प्रकार के मलों से षट् प्रकार का कालुष्य उत्पन्न होता है— (१) राग कालुष्य; (२) ईर्ष्या कालुष्य; (३) परापकार चिकीर्षा कालुष्य; (४) असूया कालुष्य; (५)अमर्ष कालुष्य; (६) द्वेष कालुष्य।

(१) स्नेहपूर्वक अनुभव किये हुए सुख के अनन्तर यह सुख मुझे सदा ही प्राप्त हो—इत्याकारक राजस वृत्ति-विशेष को राग कालुष्य कहते हैं, क्योंकि यह राग निखिल सुख-साधन विषयों की प्राप्ति न होने से मन को विक्षिप्त कर के कलुषित कर देता है।

(२) अन्य पुरुष के अधिक गुण और विशेष सम्पत्ति को देख कर उत्पन्न होनेवाले मानसिक क्षोभ, जलन को ईर्ष्या-कालुष्य कहते हैं।

(३) अन्य पुरुष का अपकार करने की इच्छा से मन में जो मल उत्पन्न होता है उसे परापकार चिकीर्षा कालुष्य कहते हैं।

(४) किसी के सद्गुणों में दोषारोपण करना, जैसे व्रतआचार-शील को दम्भी, पाखंडी कहना असूया कालुष्य कहलाता है।

(५) अपनी निन्दा के वाक्य श्रवण कर अपने अपमान के पश्चात् उसे सहन न करके बदला लेने की चेष्टा का नाम अमर्ष कालुष्य है।

(६) दुःख देनेवाले के विषय में यह चिन्तन करना कि यदि यह नष्ट हो जाय तो मुझे दुःख न हो, इत्याकारक तामस वृत्ति-विशेष को द्वेष कालुष्य कहा है।

ये छः प्रकार के कालुष्य ही मन को मलिन करके विक्षिप्त कर देते हैं। इनके रहने पर मन का प्रसन्न रहना या एकाग्र होना कठिन है।

सुखी पुरुष के साथ मित्र और हितैषी का व्यवहार करने से ईर्ष्या कालुष्य नष्ट हो जाता है; उसके सुख में अपना सुख मानने से राग कालुष्य भी जाता रहता है।

दुःखी प्राणियों पर कृपा करने से द्वेष परापकार चिकीर्षा कालुष्य की निवृत्ति होती है। कहा है—

प्राणा यथाऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः॥

अर्थात् इस प्राणी को महान् कष्ट होता होगा, क्योंकि जब हमको भी कोई दुःख आ प्राप्त होता है, तब हमीं जानते हैं। ऐसा विचार कर उसके दुःख दूर करने की चेष्टा करे। जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्र में आ जायगी तो अपने समान सभी सुखी हों, ऐसी भावना से कोई शत्रु ही नहीं रहेगा और आप ही आप द्वेष और परापकार चिकीर्षा की समाप्ति हो जायगी।

पुण्यात्मा मनुष्यों को देखकर इस प्रकार सोचना कि इनके माता-पिता के अहोभाग्य जिनके यहां ऐसा भाग्यशाली

कुलदीपक उत्पन्न हुआ है और इसको धन्यवाद है जो तन मन धनादि से पुण्यकार्य्य करता है। इस प्रकार की मुदिता आनन्दभावना से मन का असूयारूप मल भी नष्ट हो जायगा।

पापी लोगों को देखकर सोचे कि यद्यपि ये लोग मुझे मर्म-भेदी कठोर वचन कहते हैं तथा अपमानादि अनेक प्रकार का दुःख देते हैं, तथापि मैं इनसे बदला नहीं लूंगा; ये जो चाहें सो करें, अपने कर्म का फल आपही भोगेंगे। इस प्रकार उपेक्षा, उदासीनता की भावना से मन का अमर्षरूप मल आप ही नष्ट होगा।

इन कालुष्यों के नष्ट होने पर वर्षा ऋतु के पश्चात् निर्मल जल के सदृश मन भी अवश्य ही निर्मल हो जाता है।

श्री भगवान् ने कहा है—

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति।

अतः उक्त भावनाओं का अवश्य ही अभ्यास करना चाहिए।

सप्तम अध्याय

प्राणायामादि साधन

पिछले अध्याय में मन के निरोध के जो साधन बताये गये हैं, उन्हें करने में यदि साधक असमर्थ हो तो उसके लिए अन्य उपाय बताते हैं। सूत्र है—

'प्रच्छर्दनं विधारणाभ्यां वा प्राणस्य'

अर्थात् प्रयत्न-विशेष से उदर में स्थित वायु का नासिका-द्वारा शनैः शनैः रेचन, बाहर निकालना, उस निकले हुए वायु को कुछ काल के लिए भीतर न प्रविष्ट करके बाहर रोक रखना चाहिए, इसी प्रच्छर्दन और विधारण को कुम्भक और रेचक प्राणायाम कहते हैं। कुम्भक और रेचक होने से पूरक स्वयं सिद्ध हो जाता है। कुम्भक, रेचक और पूरक प्राणायाम करने से मन की उक्त वृत्तियां स्थिर हो जाती हैं। श्रुति में भी कहा है—

'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः'

अर्थात् हे सौम्य! प्राण के अधीन ही मन है। इस प्रसंग में एक आख्यान है कि एक राजा ने एक जादूगर से उसके अनुचर ब्रह्मराक्षस को दसहजार रुपये में मोल ले लिया। ब्रह्मराक्षस ने शर्त की कि मुझको सदा किसी न किसी काम में लगाये रहना; यदि तुम मुझको काम न दोगे तो मैं तुम्हीं को मार डालूंगा।

जादूगर रुपया लेकर चला गया। राजा ने मंत्री से कहा कि ब्रह्मराक्षस के लिए एक वर्ष तक लगातार चलनेवाला काम बता दो। मंत्री ने आज्ञा का पालन किया। किन्तु ब्रह्मराक्षस ने वर्ष भर का काम दो ही दिनों में समाप्त कर दिया और कहा, "और काम लाओ। मंत्री ने राजा से वृत्तान्त कहा। राजा बड़े चिन्तित हुए। इसी अवसर पर उनके दरबार मे एक महात्मा आये। राजा ने उनसे इस कष्ट से मुक्ति का उपाय पूछा।

महात्मा ने राजा से कहा, 'इसको आज्ञा दीजिए कि कहीं से लम्बा बाँस लाकर गाड़ दे और उसी पर चढ़ा-उतरा करे।

राजा ने ऐसा ही किया। लम्बा बाँस गाड़ कर ब्रह्मराक्षस उसी पर चढ़ने-उतरने लगा। इस प्रकार करते करते ब्रह्मराक्षस थक गया और घबरा कर राजा से बोला, "अब मैं तुमको नहीं मारूंगा, मुझे बैठने की आज्ञा दो और जो तुम्हारा कार्य हुआ करेगा उसे भी करूंगा।

जीवात्मा राजा है, मन ब्रह्मराक्षस है, मन जीवात्मा से कहता है कि मुझे किसी न किसी काम में लगाये रखना नहीं तो मैं तेरी दुर्दशा कर डालूंगा। जब तक जीवात्मा उसे खाने-पीने, सोने, शौच स्नानादि, संध्याबंदन में अथवा अन्य व्यवहार में लगा के रखता है तब तक तो वह उसको कोई कष्ट नहीं देता, किन्तु जब कोई काम नहीं होता तब वह अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठाता, कभी क्रोधरूपी कंटकों के वन में ले जाता, कभी काम रूप काले नाग से दंशन कराता, कभी लोभ रूपी गर्त्त में गिराता और कभी आशातृष्णा के चिन्ता रूपी भयानक समुद्र-गर्त्तों में फेंक देता है। इन कष्टों से बचने के लिए मनुष्य प्राणायाम करे, अर्थात् मन रूपी ब्रह्मराक्षस को प्राणवायु रूपी बाँस पर चढ़ाता-उतारता रहे।

नाभि से उठकर प्राण नासिका द्वारा बारह-बारह अंगुल तक कभी सोलह अंगुल पर्यन्त भी जाते हैं। नाभि से ऊपर हृदयस्थल दश अंगुल तथा हृदय से नासिका पर्यन्त आठ अंगुल

है। सब मिलाकर ३० अथवा ३४ अंगुल पर्यन्त वायु की गति है। जब रेचक करे तब मन को प्राण के साथ साथ ऊपर को लावे। जब पूरक करके प्राण भीतर को लावे तब मन को भी नीचे ही ले आवे। इस प्रकार बारम्बार चिरपर्यन्त करने से मन थक कर जीवात्मा की शरण में जाकर कहेगा कि अब तू मुझको छोड़ दे, तेरा जो काम हो करा लिया कर; तेरा काम करने के बाद मैं शान्त रहूँगा।

इस प्रकार प्राणायाम करने से भी मन वश में हो जाता है। जैसे घटीयन्त्र में सूची की अदृश्यमान सूक्ष्म क्रिया अधोवर्त्तमान निरन्तर भ्रमणशील यन्त्र की स्थूल क्रिया के अधीन होती है, वैसे ही शरीर रूपी यन्त्र में अदृश्यमान सूक्ष्म मानसी क्रिया निरन्तर भ्रमणशील प्राणवायु की क्रिया के अधीन होती है और जैसे अधो वर्त्तमान यन्त्रकी क्रिया की किसी प्रकार निवृत्ति करने से सूची की क्रिया निवृत्त हो जाती है वैसे ही यहां प्राण की क्रिया रोकने से मन की क्रिया निवृत्त हो जाती है। अतः प्राण निरोध से मन का निरोध हो सकता है।

वसिष्ठ जी ने राम से यही कहा है—

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दन वासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ।

किन्तु जिस साधक से प्राणायाम भी न हो सके वह क्या करे, इसपर भी विचार आवश्यक है। कहा है—

'*वीतरागविषयं वा चित्तम्*'

अर्थात् जिन शुकदेव, सनकादि महान आत्माओं का मन संसार की वासना से रंजित नहीं है उनके मन पर ही आलम्बित होकर के अभ्यास करने से मन निरुद्ध हो जाता है।

जिससे यह भी न हो सके उसके लिए अन्य उपाय हैं—

"स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बन वा"

अर्थात स्वप्न से जाग कर स्वप्न ज्ञान के विषयभूत प्रतिमा आदि में मन को लगा दे; इससे भी मन स्थिर हो जाता है। एवं गाढ़ निद्रा से उत्थित होने पर जब यह स्मरण हो कि मैं सुख से सोया तो उस सात्त्विक निद्रा ज्ञान के विषयभूत सुखमय अपने रूप के आलम्बन में भी मन को लगा दे तो वह स्थिर हो जाता है। यहां निद्रा ज्ञान से ज्ञान मात्र का ही आलम्बन न समझना चाहिए, बल्कि सुषुप्ति कालिक अपने सुखमय रूप का आलम्बन समझना चाहिए।

यदि यह भी न हो सके तो अन्य साधन भी हैं। सूत्र है—

"यथाऽभिमत ध्यानाद्वा"

अर्थात् जिस वस्तु में पुरुष की अधिक रुचि हो उसी का ध्यान करे—विष्णु, शंकर, गणेश, सूर्य्य, देवी, स्त्री, पुत्र धनादि किसी का भी ध्यान करे, किन्तु जिसका ध्यान करे उसमें तल्लीन हो जावे। स्त्री-पुत्रादि ही में अगर ध्यान लगता है तो कोई चिन्ता की बात नहीं। पहले क, ख, ग आदि अक्षरों के पढ़ने ही के बाद वेदों का पढ़ना हो सकता है। जिसका मन स्त्री

पुत्रादि में एकाग्र हो जाता है उसे मनको स्थिर करने की रीति ज्ञात हो जाती है। फिर स्त्री पुत्रादि से हटा कर मन सरलता से इष्ट देवता में भी स्थिर किया जा सकता है।

अष्टम अध्याय

स्थिर मन का लक्षण

पुरुष का मन स्थिर हो गया है, इसका निश्चय कैसे किया जाय ? सूत्र है—

"परमाणु परम महत्त्वाऽन्तोऽस्य वशीकारः"

अर्थात् उक्त साधनों से स्थिर होकर मन ऐसा वशीभूत हो जाता है कि यदि उसको सूक्ष्म पदार्थ परमाणु में एक तान से लगाया जाय तो अति सूक्ष्म परमाणु पर्यन्त स्थिर पद को प्राप्त कर लेता है एवं यदि अत्यन्त वृहत्, महान पदार्थ में एक तान से लगाया जाय तो अति महान आकाश पर्यन्त स्थिति को प्राप्त हो सकता है। सूक्ष्म विषयों की अवधि परमाणु है और स्थूल विषयों की अवधि आकाश है। जब इन दोनों में मन स्थिर हो जाय तब जानना चाहिए कि स्थिरता मन के वशीभूत हो जाती है और तब जहाँ इच्छा हो वहाँ मन को निविष्ट करके स्थिर किया जा सकता है। इस वशीकार की प्राप्ति से जब मन परिपूर्ण हो जाता है तब साधक अन्य स्थिति के साधनों की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार सूक्ष्म में निविष्ट मन का परमाणु तक

निविष्ट होकर स्थिर हो जाना और स्थूल में निविष्ट मन का परम महान् आकाश तक निविष्ट होकर स्थिर हो जाना—यही मन की स्थिरता का पूर्ण चिह्न है। मन के स्थिर हो जाने पर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है।

स्थिर मन वाला निन्दा-स्तुति को समभाव से देखता है—

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्व प्रयत्न सुलभोऽयमनुग्रहोमे।
श्रेयोऽर्थिनोहि पुरुषाः परितुष्टि हेतोः
दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥

अर्थात् यदि कोई पुरुष मेरी निन्दा करके संतुष्ट होता है तो मेरे बिना प्रयत्न ही मुझ पर उसकी बड़ी कृपा है, क्योंकि श्रेय चाहने वाले पुरुष तो कष्ट से पैदा किया हुआ धन भी खर्च कर देते हैं।

सतत सुलभ दैन्ये निःसुखे जीव लोके
यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरोवा
जगति हि बहु दुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः॥

अर्थात् नैसर्गिक निरन्तर दुःख रूप इस मनुष्य लोक में यदि मेरी निन्दा से कोई पुरुष प्रसन्न होता हो तो मेरे समक्ष में अथवा परोक्ष में मनमानी निन्दा करे, क्योंकि दुःख रूप संसार में प्रसन्नता का योग बड़ा दुर्लभ है।

स्थिर मन में क्षमा भाव होता है—

कश्चित् पुमान् क्षिपति मामति रूक्ष वाक्यैः
सोऽहं क्षमा भवन मेत्य मुदं प्रयामि ।
शोकं व्रजामि पुनरेव यतस्तपस्वि
चारित्र्यतः स्खलितवानिति मन्निमित्तम् ।

अर्थात् यदि कोई मुझ पर कठोर वाक्य-बाणों की वर्षा करता है तो मैं क्षमा भाव को प्राप्त होकर प्रसन्न ही होता हूँ । खेद इसी बात का होता है कि वह तपस्वी मेरे लिए पतित होता है ।

न मेऽपराधः किमकारणे नृणां
मदभ्यसूये त्यांय नैवचिन्तयेत् ।
न यत्कृता प्राग्भव बन्ध निःस्मृति
स्ततोऽपराधः परमोऽनुचिन्त्यताम् ।

अर्थात् मैंने इन पुरुषों का कुछ अपराध नहीं किया, ये लोग अकारण मेरी निन्दा क्यों करते हैं, ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिए । क्या यही महान अपराध नहीं है कि मैंने पूर्व जन्म में जन्म-मरण से छूटने का प्रयत्न नहीं किया ।

स्थिर मनवाला तो अपने शत्रुओं का कृतज्ञ होता है—

जीवन्तु मे शत्रुगणः सदैव
येषां प्रसादात् सुविचक्षणोऽहम् ।
यदा यदाऽहं स्खलितोस्मि धर्मात्
तदा तदा मां प्रतिबोधयंन्ति ।

अर्थात मेरे रिपुगण सर्वदा जीते रहें, जिनकी कृपा से मैं विचक्षण हूँ, क्योंकि जब जब मैं धर्म से पतित होता हूँ तब तब वे मुझको जगा देते हैं, सचेत कर देते हैं।

निन्दकस्योपकारस्तु मातृतो ऽप्यधिको भवेत् ।
सा च हरति हस्ताभ्यां निन्दकस्तु स्वजिह्वया॥

अर्थात् निन्दक का उपकार माता से भी अधिक मानना उचित है। क्योंकि माता तो मल को हाथों से दूर करती है, किन्तु निन्दक उसे अपनी जीभ से दूर करता है।

निन्दां यः कुरुतेसाधोस्तथा स्वं दूषयत्यसौ ।
खे भूतिं यस्त्यजेदुच्चैः मूर्ध्नि तस्यैव सापतेत् ॥

अर्थात् स्थिर मनवाला सोचता है कि जो साधु की निन्दा करता है वह अपने आपको दूषित करता है। जो आकाश पर राख फेंकता है उसी के सिर पर राख आ कर गिरती है।

आत्मानं यदि निन्दन्ति निन्दन्ति स्वयमेव हि ।
शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम ॥

अर्थात् यदि वे मेरे आत्मा की निन्दा करते हैं तो अपने आपकी निन्दा करते हैं और यदि वे शरीर की निन्दा करते हैं तो वे मेरे सहायक हैं, क्योंकि शरीर की तो मैं स्वयं ही निन्दा करता हूं।

वर्षस्कं त्वन्न कार्य्यत्वाद्यथा नात्मेति गम्यते
तद्भागः सेन्द्रियः देहस्तद्वत् किमिति नेष्यते

वर्चस्के संपरित्यक्ते दोषतश्चावधारिते ।
यदि दोषं वदेत्तस्मै किं तन्त्रोऽचरितुर्भवेत् ॥

अर्थात् विष्ठा, शरीर और इन्द्रियाँ तीनों ही अन्न से बने हैं, तो जैसे विष्ठा अनात्मा है वैसे ही शरीर और इन्द्रियों को भी स्थिर मन वाला अनात्मा ही मानता है।

विष्ठा त्यागने पर विष्ठा के दुर्गन्धादिक दोषों के सम्बन्ध में यदि कोई कुछ कहे तो विष्ठा त्यागने वाले की उसमें क्या हानि है ?

तद्वत् सूक्ष्मे तथा स्थूले देहेत्यक्ते विवेकतः ।
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं तत्र विदुषो भवेत् ॥
रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥

अर्थात् सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर को विचार द्वारा आत्मा से पृथक् समझ लेने पर यदि कोई स्थूल या सूक्ष्म शरीर की निन्दा करे तो विद्वान की क्या क्षति है, कुछ नहीं है। शत्रु के, मित्र के तथा अपने शरीर में एक ही आत्मा देखने वाले विवेकी को क्रोध नहीं होता। जैसे कदाचित् दाँतों ने जिह्वा को काट लिया तो क्या मनुष्य दाँतों को निकलवा डालता है? तो विद्वान किसी पर क्रोध क्यों करे? वह तो सब को अपना आत्मा ही समझता है।

जिस समय किसी की कोई निन्दा करता है या सुनता है उस समय निन्दा करने वाले और सुनने वाले दोनों की सूरत हत्यारों की सी प्रतीत होती है।

समदुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्म संस्तुतिः ॥

—गीता

उक्त श्लोक की टीका में स्वामी आनन्दगिरिजी ने एक आख्यान लिखा है, जिसे हम यहाँ पाठकों के लिए उपस्थित करते हैं।

एक राजा ने एक दिन भोजन करवाया। भोजन के पश्चात् सब ब्राह्मण मर गये। नगर में चर्चा होने लगी कि राजा ने विष देकर सब ब्राह्मणों को मरवा डाला। किन्तु बहुत से लोगों को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ।

एक दुष्ट ने नई कहानी गढ़ी—राजा का अमुक ब्रह्मण की स्त्री के साथ कुत्सित सम्बन्ध है, उस अकेले ब्राह्मण को मरवाना राजा ने उचित न समझ कर बहुतों के साथ निमंत्रण देकर विषादि से मरवा डाला। इस बात का बहुत से लोगों को विश्वास हो गया।

राजा निर्दोष होने पर भी निन्दा से भयभीत होकर वन में चला गया। वन में आकाशवाणी हुई—हे राजन् ! तेरा कुछ दोष नहीं है। ब्राह्मणों के मरने का कारण यह है कि ब्राह्मणों के खाने के लिए खीर बनायी जा रही थी। आकाश में चील सर्प को लिये उड़ी जा रही थी। सर्प के मुख में से विष टपक कर खीर में जा पड़ा। आकाशवाणी द्वारा कही गयी इस कथा को

उन दुष्ट निन्दकों ने भी सुना। हत्या राजा को छोड़ कर ईश्वर से बोली, "प्रभो, अब मैं कहां जाऊँ ?" ईश्वर ने कहा, "जिन लोगों ने राजा को दोष लगाकर निन्दा की है और जिन लोगों ने उसे प्रेम से सुना है, तुझे उनके मुख पर रहना चाहिए। तभी से हत्या ने निन्दकों और निन्दा-श्रोताओं के मुख पर वास करना निश्चित कर लिया है।

स्थिर मन वाला गाली और निन्दा को, जो इतना निषिद्ध कर्म है, कोई परवा नहीं करता। वह कहता है—

गालिमद्भिर्भवद्भिश्च वितीर्यन्ते तु गालय :।
तथापीच्छा मदीयेयं गाली संग्रहणेषु नहि।
अतएव च गालीनाम् सग्रहो भवतो भवेत्।
संग्रही दोष भागी स्यात् परित्यक्ता सुखी भवेत्।
ददतु ददतु गालिर्गालिवन्तो भवन्तः।
वयमपि तदभावाद्गालि दानेऽसमर्थः।
जगति विदित मेतद्दीयते विद्यमाने
नहिशशक विषाण कोपि कस्मै ददाति।

अर्थात आप गालीवाले हैं, गालियां हमको देवें। हमारे पास गालियां नहीं हैं, हम गालियां देने में असमर्थ हैं। संसार में जिसके पास जो होता है वही देता है। खरहे की सींग कोई किसी को नहीं देता।

किसी भाषा कवि ने कितना अच्छा कहा है—

निन्दक पासे राखिए अंगन छान छवाय।
साबुन सज्जी के बिना पाप मैल धुल जाय॥

स्थिर मन वाले के लिए सब से अच्छा सिद्धान्त यह है--

पर स्वभाव कर्माणि न प्रशंसेत् न गर्हयेत्।
आत्मप्रशंसा गर्हणं पर निन्दा तथैव च॥

अर्थात् औरों के स्वभाव, कर्म की न प्रशंसा करे न निन्दा करे। अपनी भी प्रशंसा करना ठीक नहीं है और न दूसरे की निन्दा करना ही उचित है।

नवम अध्याय

साधक सावधान !

साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। जैसे धन के मालिक और चौकीदार के सावधान होने पर भी लुटेरे डाकू बलपूर्वक धन ले जाते हैं वैसे ही चक्षुरादि इन्द्रिय रूपी चोर जीव के विचार द्वारा सावधान होने पर भी उसका आत्मधन हर ले जाते हैं।

भगवान् ने गीता में कहा है--

"यततोह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

अर्थात हे अर्जुन ! विद्वान् विचार वाले यत्नशील योगी के भी मन को इन्द्रिय रूपी तस्कर बलात् हर ले जाते हैं और कुपथ में लगा देते हैं, दूसरों की तो बात ही क्या है !

जैसे प्रवाह में प्रवाह के वेग के साथ बह जाने वाले को उसके वेग का पता नहीं लगता, किन्तु प्रवाह के रोकने वाले ही को उसका ज्ञान हो सकता है, वैसे ही विषयों की धारा में बह जाने वाले को उसकी शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता; विषयों से इन्द्रियों को रोकने वाले ही इस कार्य में सफल हो सकते हैं। इसीलिए भगवान ने इन्द्रियों को, प्रमाथीनि' तथा 'प्रसभं अर्थात् बलात् हरने वाला कहा है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन बोद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।

अर्थात् प्रणव को धनुष तथा आत्मा को तीर बना कर ब्रह्मरूप लक्ष्य को प्रमाद से रहित होकर वेधे। जैसे तीर लक्ष्यको वेधकर उसके भीतर ही प्रविष्ट हो जाता है तद्वत् आत्मा भी ब्रह्म का रूप ही हो जावे। सावधानी के साथ लक्ष्यवेध करना चाहिए।

वित्तं च दृष्टिं करणं तथाऽन्यत्
एकत्र बध्नाति हि लक्ष्यभेत्ता ।
किञ्चित्प्रमोदं सति लक्ष्य भेत्तुः
बाण प्रयोगो विफलो यथा तथा ।

अर्थात् लक्ष्य वेधनेवाला अपने मन को, दृष्टि को तथा धनुष बाणादि अन्य करणों को एकत्र स्थापन करता है। यदि

उसके कार्य्य में तनिक सा भी प्रमाद हो जाय तो बाण चलाना व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म रूप लक्ष्य वेधने के समय इन्द्रियों को बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। यदि अल्प प्रमाद भी हो गया तो लक्ष्य से च्युत होकर मन न जाने कहाँ-चला जायगा। भगवान ने भी कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।

अर्थात् विषयों में लगी हुई इन्द्रियों के पीछे पीछे जाने वाला मन विषयों को ग्रहण करने में लगा रहकर साधक की आत्म-अनात्म सम्बन्धी विवेक ज्ञान से उत्पन्न बुद्धि को हर लेता है, जैसे जल में नौका को वायु अपनी ओर खींच लेती है।

ठीक उपर्युक्त नौका की तरह पुरुष पराधीन हो जाता है, पराधीनता ही दुःख का कारण होती है। पराधीनता का अर्थ है शत्रु की अधीनता। शत्रु की अधीनता में पड़ कर कौन सुखी हो सकता है?

उपनिषद्कार कहते हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेव च ।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।

यस्तु विज्ञानवान भवति समनस्कः सदाशुचिः ।
स नु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।
विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

—कठो० अ० १ व० ३

अर्थात् आत्मा रथ में बैठनेवाला है, शरीर उसका रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रिय घोड़े हैं जो अपने विषयों में जाने की वृत्ति रखते हैं। आत्मा अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों को मिलाकर ज्ञानी भोक्ता कहते हैं। जो मनुष्य ज्ञानहीन होता है और जो अपने मन को वश में नहीं करता उसकी इन्द्रियां काबू में नहीं आतीं। उसकी स्थिति वैसी ही भयानक होती है जैसी अशिक्षित घोड़ों वाले रथ में बैठे हुए किसी सारथी की होती है। किन्तु जो ज्ञानी है और योग द्वारा अपने मन का संयम करता है उसको वैसा सुख प्राप्त होता है जैसा उत्तम शिक्षित घोड़ोंवाले रथ में बैठनेवाले मनुष्य को होता है। जिसका सारथी ज्ञान से युक्त है, मनरूपी जिसकी लगाम अपने हाथ में है, वही मनुष्य मार्ग के पार जाकर भगवान् के परमपद मोक्ष को प्राप्त होता है।

यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि चेतन को छोड़कर अन्य सर्व पदार्थ क्षण क्षण में परिणामी होते रहते हैं और इस न्याय से मन का सर्वदा परिणाम रूप प्रवाह ठीक ही है, व्युत्थान काल में मन की वृत्ति का परिणाम रूप प्रवाह स्फुट है तो फिर निरूद्धमन

का परिणाम रूप प्रवाह किस प्रकार है। साधक को यह भी जान लेना आवश्यक है।

सूत्र है—

"ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्

अर्थात् जैसे अग्नि में घी और लकड़ी के डालने से वह उत्तरोत्तर बढ़ कर प्रज्वलित होती है और घी, लकड़ी के क्षीण होने पर पहले तो थोड़ा शान्त होती है, फिर शनैः शनैः पूर्ण शान्त हो जाती है, वैसे ही निरूद्धमन उत्तरोत्तर अधिक शान्त होता जाता है। इसी को श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है :

यदा विनियत चित्तमात्यन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युन्जतो योगमात्मनः।
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवाऽत्मनाऽत्मानं पश्यन्नात्मनितुष्यति।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

अर्थात् चित्त को वश में करके बाहर के विषयों का चिन्तन छोड़कर जब साधक केवल आत्मा में स्थित होता है तब सब भोगों की लालसा से रहित होकर वह परमात्मा में स्थित होता है।

वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक विचलित नहीं होता, यही गति समाधिस्थ पुरुष की योगवेत्ता पुरुषों ने मानी है।

योग साधन से निरुद्ध मन जहाँ जिस समय उपराम होता है तथा जब समाधि द्वारा अतीव निर्मल अंत: करण परम चैतन्य-ज्योति स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करता है तब वह अपने आप में ही संतुष्ट होता है।

जो सुख अंत से रहित, इन्द्रियों की अपेक्षा से शून्य केवल बुद्धिग्राह्य है, उस सुख का जब साधक अनुभव करता है तब वह अपने स्वरूप में स्थित होकर अविचलित होता है।

आत्मप्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त होकर साधक उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता; आत्मतत्त्व में स्थित होकर वह शस्त्राघातादि बड़े भारी दुःखों से भी विचलित नहीं होता।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्ण सुख दुःखेषु तथा मानापमानयोः ।

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजिनेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी सम लोष्टाश्म कांचनः ।

अर्थात् जिसने मन सहित इन्द्रियों के संघात शरीर को अपने वश में कर लिया है, जो शान्त है, जिसका अंत:करण सदा

प्रसन्न रहता है, उस पुरुष को परमात्मा प्राप्त है, वह साक्षात् आत्मभाव से विद्यमान है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, मानापमान में समान भाव रखता है।

शास्त्रोक्त पदार्थों के समझने का नाम ज्ञान है और शास्त्र से समझे हुए भावों को अपने अंत:करण में प्रत्यक्ष करने का नाम विज्ञान है। ऐसे ज्ञान और विज्ञान से जिसका अन्त:करण तृप्त है वह कूटस्थ, अविचल, जितेन्द्रिय समाधिस्थ कहा जाता है। उसके लिए मिट्टी और सुवर्ण एक सा है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।
संकल्प प्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।

जो सुहृत, प्रेमी, शत्रु, उदासीन, पक्षपात रहित मध्यस्थ, द्वेषपात्र, हितैषी, साधु, पापी इन सब में समान बुद्धि रखता है, ऐसा पुरुष सर्वश्रेष्ठ है।

संकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओं को लेशमात्र न रखकर एवं विवेकयुक्त मन से इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से रोक कर क्रम क्रम से उपरामता को प्राप्त करे। बालक और पशु को जैसे मृदुता से वश में लाते हैं वैसे ही मन को वश में लावे।

धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को आत्मा में स्थिर करके, सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है यह

भाव ग्रहण करके किसी वस्तु का भी चिन्तन न करे, यह योग की परमश्रेष्ठ विधि है ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।
प्रशान्त मनसंह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्त रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत कल्मषः ।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।

अर्थात् स्वाभाविक दोष के कारण अत्यन्त चंचल मन जिन जिन शब्दादि विषयों से विचलित होता है, बाहर दौड़ता है उनसे उसको रोककर उन विषयों के स्वरूप का, यथार्थ तत्त्व-निरूपण द्वारा, आभास मात्र दिखाकर वैराग्य की भावना से बारम्बार आत्मा में ही निरोध करे। इस प्रकार दृढ अभ्यास से मन आत्मा में ही शान्त हो जाता है। जिसका मन सुशान्त है, रजोगुण से रहित है, जो 'सब कुछ ब्रह्म ही है,' ऐसे निश्चयवाला है, जो अधर्मादि दोषों से शून्य है उसको निरतिशय सुख प्राप्त होता है।

योग-सम्बन्धी विघ्नों से रहित, विगत-कल्मष, निष्पाप पुरुष उपर्युक्त क्रम से मन को समाहित करके अनायास ही ब्रह्म-प्राप्ति रूप उत्कृष्ट सुख का अनुभव करता है और परब्रह्म-सम्बन्धी अनन्त परमसुख को प्राप्त होता है।

जो दर्पण दोनों ओर से खुला हो, कलई, पारे आदि से एक ओर से ढका न हो तो उसमें जभी देखेंगे दृष्टि दर्पण के पार

होकर बाहर चली जायगी। किन्तु यदि एक ओर कलई कर दी गयी हो तो दृष्टि दर्पण के उस पार न जायगी। इसी प्रकार मन को विषयों में बाहर न जाने से भी रोकना पड़ता है। इन्द्रियों के रोके बिना मन नहीं रुक सकता और मन को रोके बिना इन्द्रियाँ नहीं रुक सकतीं। जैसे रथ की यात्रा के लिए घोड़ों को वश में रखने की आवश्यकता है और घोड़ों को वश में रखने के लिए लगाम को अपने हाथ में रखने की आवश्यकता है, उसी तरह सुख प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को वश में रखने की आवश्यकता है और इन्द्रियों को वश में रखने के लिए मन को वश में रखना जरूरी है।

दुष्ट चंचल मन ही जीवों को परमानन्द से वियुक्त करके नीचे गिराता है, इस कारण मन रूपी हाथी को विचार रूपी अंकुश से वश करे।

कोई कोई पुरुष कहा करते हैं कि सब इन्द्रियाँ वश में रहें, एक वश में न रहे तो क्या हानि है? ऐसा कहनेवाले की बड़ी भारी भूल है, क्योंकि एक भी इन्द्रिय को चंचल रखने से महान् अनर्थ की प्राप्ति होती है। मनु ने भी कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

अर्थात् जैसे पात्र में एक छोटा सा छिद्र होने से सारा जल बाहर निकल जाता है, वैसे ही एक इन्द्रिय भी स्वच्छन्द रहकर अनर्थ का सृजन कर सकती है।

दशम अध्याय

मंत्रादि तथा अन्य षोड़श साधन

मन को स्थिर करने के लिए मंत्रादि साधन भी काम में लाये जाते हैं।

'अहं ब्रह्मास्मि' इसी एक महामंत्र के जप से मन शान्त होकर मुक्त हो जाता है। किसी किसी का कहना है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' मुख से कहता रहे और विषयासक्त भी रहे तो साधक उभयत: भ्रष्ट हो जाता है। उनका यह कथन युक्ति युक्त नहीं है। कारण यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' मंत्र जपने तथा विचारने की अपेक्षा सिद्धावस्था में तो होती नहीं, साधारणतया साधन-दशा में साधक तो विषयासक्त रहता ही है; हाँ, अभ्यास से विषयासक्ति क्रमश: छूट जाती है।

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्माऽस्मीत्येव चिन्त्यताम्।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किंपुन:।

अर्थात् ब्रह्म का अनुभव न होने पर भी 'मैं ब्रह्म हूँ,' इस प्रकार चिन्तन करता रहे। क्योंकि ध्यान करने में जो वस्तु प्राप्त भी नहीं है वह प्राप्त हो जाती है। तो फिर ब्रह्म क्यों न प्राप्त होगा ?—वह ब्रह्म जो हृदय में स्थित प्राप्त ही है।

तेजोविन्दु उपनिषद् के मंत्र हैं—

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्यं पापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेद बुद्धिं विनाशयेत् ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देह दोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्म पापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं द्वैत दुःखं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तबंधं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं क्रोध शक्तिं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्व शोकं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटि दोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत् ।

इसी को अहं ब्रह्म उपासना भी कहते हैं।

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

अर्थात् अर्द्ध श्लोक में कहता हूँ कोटि का सार ।
ब्रह्म सत्य है, जग मिथ्या है, जीव ब्रह्म निरधार ।

जीव ब्रह्म रूप ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। एक तो जगत को मिथ्या जाने, दूसरे ब्रह्म को सत्य जाने इन्हीं दो साधनों से जिज्ञासु गन्तव्य स्थान पर पहुँच जायगा।

'आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो; मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यश्च'

अर्थात आत्मा के साक्षात्कार के लिए तीन साधन हैं—(१) अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण करना; (२) श्रवण किये हुए को युक्तियों द्वारा मनन करना; (३) समाहित चित्त होकर, समाधि में स्थित होकर उस पदार्थ का साक्षात्कार करना। अथवा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों से आत्मा को पृथक् रूप में ग्रहण करना; अथवा सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों गुणों से अतीत होना।

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'

—गीता

\+ + +

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः

—शुकाष्टक

चार साधनों में विवेक, वैराग्य, षटसम्पत्ति, मुमुक्षुता ये तो वेदान्त में प्रसिद्ध हैं; अथवा संतोष,❀ सत्संग, विचार शम (मन को रोकना); अथवा सामवेद में चार सेतु तरने को भी कल्याण का कारण कहा है। ये हैं—

'सेतूंस्तर दुस्तरान् सत्येनानृतम् दानेनादानम् श्रद्धयाऽश्रद्धाम् अक्रोधेन क्रोधम्'

❀ संतोषः परमो लाभः सत्संगः परमंधनम्।
विचारः परमं ज्ञानं शमंच परमं सुखम्।

मुक्ति द्वार पालक चतुर रामसंतोष विचार।
चौथा सतसंगति धरम महापूज्य निर्धार।

अर्थात् चार दुस्तर सेतुओं को अवश्य ही तर कर पार होना चाहिए, वे हैं—(१) अनृत; (२) अदान; (३) अश्रद्धा और क्रोध। इन्हें (१) सत्य; (२) दान; (३) श्रद्धा; (४) अक्रोध द्वारा पार करना चाहिए* ।

अथवा—

अध्यात्मविद्यागमः साधुसंगम एव च ।
वासना संपरित्यागः प्राणस्पंद निरोधनम् ।
एतास्तु युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्त जपे किल ।

अर्थात् (१) अध्यात्मविद्याधिगम; (२) साधु संगम; (३) वासनासंपरित्याग; (४) प्राणस्पंद निरोधन—ये चार उपाय चित्त के जीतने में प्रबल कारण हैं।

(१) आत्मा को ब्रह्मरूप करके कथन करनेवाली विद्या का नाम अध्यात्म विद्या है; उसकी प्राप्ति का नाम अध्यात्म विद्याधिगम है; यह भी मन को जीतने का एक साधन है, क्योंकि नाम

---

* अदान—जो दान नहीं करता वह इस सेतु को दान से तरे; अथवा 'दानेनादानम् ।' इसमें से आदान पद भी निकल सकता है, अर्थात् पृथिवी, अग्नि, जल वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र वृक्षादिकों तथा लोगों से जो दान लिया है उसको दान से तरे; पृथिवी से अन्नादि, जलपानादि, अग्नि से पाकादि, वायु से श्वासादि, चन्द्र से शान्ति, प्रकाशादि, सूर्य से प्रकाशादि जो लिया है उन प्रतिग्रहों को दान द्वारा तरे।

वेद, मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध अवतारादि में जो अश्रद्धा है उसको श्रद्धा, विश्वास से तरे।

रूपात्मक सकल प्रपंच मिथ्या है। मैं ही सर्वत्र परिपूर्ण परमानंद एक रस हूँ। मुझसे भिन्न कारण कुछ भी नहीं है। चराचर सर्वरूप मैं ही हूँ। इस प्रकार की अध्यात्म विद्या के प्राप्त होने से तत्त्ववेत्ता पुरुष नाम रूपात्मक मिथ्या प्रपंच की ओर स्वयं नहीं जाता और आत्मा मन का विषय न होने के कारण उसमें भी मन को प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर प्रवृत्ति से रहित होकर मन सर्ववृत्तियों के अनुदय से काष्ठ रहित अग्नि के समान स्वयं ही अपने अधिष्ठान रूप कारण में लय हो जाता है। अतएव इस अध्यात्म विद्या की प्राप्ति ही मन के निरोध में प्रधान कारण है।

(२) महान् पुरुषों के समागम से मन निरुद्ध हो सकता है, क्योंकि वे सर्वदा अध्यात्मविद्या का ही उपदेश करते रहते हैं।

(३) वासना-त्याग से भी मन निरुद्ध हो जाता है।

(४) प्राणों के रोकने से भी मन का निरोध हो सकता है।

मुमुक्षु चाहे तो इन चारों साधनों का प्रयोग भी मन के निरोध के लिए कर सकता है।

अब मनोनिरोध के पंच साधन लिखते हैं

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—

"स वारा च पुरुषोऽन्नमयः। तस्माद्वारा तस्मादन्न रसमयात्। अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः। तस्माद्वारा तस्मात्प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तस्माद्वारा तस्मात्मने.मयात्। अन्यो

न्तर आत्मा विज्ञानमयः। तस्माद्वारा तस्माद्विज्ञानमयात्। अन्यो ऽन्तर आत्मानन्दमयः।

कठोपनिषद् में कहा है—

"अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषिकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्र ममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति।

अर्थात् जो आत्मा पुरुष अन्न मय आदि पाँच कोशों से परे हृदय में प्रविष्ट है उसको इन कोशों से युक्ति से पृथक् करना चाहिए, जैसे मूंज के घास में से इषीका, तीली को युक्ति से निकाल कर के पृथक् कर लेते हैं। आत्मा को पृथक् कर के उसमें स्थित होना ही परम पद की प्राप्ति है।

षट् साधनों में (१) काम; (२) क्रोध; (३) लोभ; (४) मोह; (५) अहंकार; (६) मद-मत्सर पर विजय प्राप्त करना है। इनके द्वारा भी मन का निरोध हो सकता है।

अथवा (१) क्षुधा; (२) पिपासा; (३) हर्ष; (४) शोक; (५) जरा-जन्म; (६) मरण—इन षड्र्मियों को वश करने से भी मनोनिरोध हो सकता है।

अथवा (१) जायते; (२) अस्ति; (३) वर्द्धते; (४) परिणमते; (५) अपेक्षीयते; (६) विनश्यति—इन षड्भाव विकारों से रहित निर्विकार आत्मा के साक्षात्कार द्वारा केवलीभाव की प्राप्ति हो सकती है।

अथवा—

अजिह्वः, षंढः पंगुरंधो वधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते जंतुः षड्भिरेतै न संशयः ॥

अर्थात् (१) रसना हीन; (२) नपुंसक; (३) पंगु; (४) अंध; (५) वधिर; (६) मुग्ध—इन षड्धर्मों वाला पुरुष भी मुक्त हो जाता है।

(१) *इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न भुञ्जते ।*
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥

अर्थात यह स्वाद है, इष्ट है, यह स्वाद नहीं, यह अच्छा नहीं, खाकर भी खाने में आसक्त नहीं होता, हितकर, सत्य, तथा मितभाषी होता है वह पुरुष अजिह्व कहा जाता है।

(२) *अद्य जाता यथा नारी तथाषोड़श वार्षिकीम् ।*
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥

अर्थात आज उत्पन्न हुई लड़की, सोलह वर्ष की युवती तथा सौ वर्ष की वृद्धा स्त्री को जो विकाररहित दृष्टि से देखता है वह षण्ढ, नपुंसक है।

(३) *भिक्षार्थं गमनं यस्य विरामूत्र करणाय च ।*
योजनान्नपरं याति सर्वथा पंगुरेव सः ॥

(४) *तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्बदूरगम् ।*
चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट्सोऽन्ध उच्यते ॥

(५) हितं मितं मनोरम्यं वचः शोकापहं च यत् ।
श्रुत्वा यो न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्त्तितः ॥

(६) सन्निधौ विषयाणां च समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवत् वर्त्तते नित्यं भिक्षुर्मुग्धः स उच्यते ॥

अर्थात् (३) जो भिक्षा के लिए अथवा मल-मूत्र से निवृत्ति के लिए जाता है, जो एक योजन से अधिक नहीं जा सकता उसे पंगु कहते हैं।

(४) चलता हुआ, खड़ा हुआ, बैठा हुआ जिसके नेत्र, जितना गाड़े का जूआ लम्बा होता है, उससे चतुर्गुण से अधिक नहीं जाते वह अंधा कहा जाता है।

(५) हितकर, मित, मनोरम, शोकनाशक वचन जो सुनकर नहीं सुनने के समान जानता है वह बधिर कहाता है।

(६) विषयों के समीप होने पर समर्थ शक्तिवाला होने पर भी जो सोये हुए के समान बर्ते उसे मुग्ध कहते हैं।

इन षड् धर्मोंवाला संन्यासी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ कोई भी हो, मुक्त हो जाता है।

षट् साधनों के अनन्तर अब सात साधन भी बताये जायँगे। स्वरूप ज्ञान तथा मनोनिरोध की सात भूमिकाएँ हैं। वे हैं—(१) शुभेच्छा; (२) विचारणा; (३) तनु मानसा; (४) सत्त्वापत्ति; (५) असंसक्ति; (६) पदार्थाभावनी; (७) तुरीया इन्हें प्राप्त करके साधक फिर शोकादि नहीं करता।

(१) मैं कौन हूं, मैं मूढ़ हूँ, मेरी बुद्धि सत्य में नहीं लगती,

संसार की ओर लगी रहती है—इस प्रकार के विचार-द्वारा वैराग्यपूर्वक सत् शास्त्र तथा संत जनों की संगति की इच्छा करने का नाम शुभेच्छा है।

(२) सत् शास्त्रों को विचारना, संतों की संगति, विषयों से वैराग्य, सन्मार्ग का अभ्यास करना, सदाचार में प्रवृत्ति होना, सत्य को सत्य जानकर सत्य, आत्मा, ब्रह्म को ग्रहण करना तथा असत्य जगत् को असत्य जानकर उसका त्याग करना, मैं कहाँ से आया हूँ, मरकर कहाँ जाऊँगा इत्यादि विचारने का नाम विचारणा भूमिका है।

(३) विचार और शुभेच्छा सहित तत्त्व का अभ्यास करना, शब्द, स्पर्शादि विषयों से वैराग्य करना, मन के संकल्प-विकल्प को कम कर देना--यह तनुमानसा नामक भूमिका है।

(४) इन तीन भूमिकाओं सहित संसार के विषयों से वैराग्य करना, जितेन्द्रिय होना और सत्यस्वरूप अपने आत्मा में स्थिति करने का नाम सत्त्वापत्ति भूमिका है।

(५) इन चार भूमिकाओं के संयम का फल शुद्ध स्वरूप को जान कर किसी भी पदार्थ में संसक्त न होना असंसक्ति भूमिका कहलाता है।

(६) दृश्य का विस्मरण और भीतर-बाहर से अनेक पदार्थों का तुच्छ भासना पदार्थाभावनी भूमिका कहलाता है।

(७) चिर पर्यन्त छठी भूमिका के अभ्यास से भेद-भावना का अभाव हो जाता है और अपने स्वरूप में दृढ़ निश्चय हो

जाता है, साधक जागता हुआ भी जाग्रत दृश्य में सुषुप्त सा रहता है, षट् भूमिकाएँ जहाँ एकता को प्राप्त हों उसका नाम तुरीया है।

प्रथमोक्त तीन भूमिकाएँ जगत् की जाग्रत अवस्था में हैं, चौथी तत्त्वज्ञानी की है, पाँचवीं और छठीं जीवन्मुक्त की है, तुरीयातीत पद में विदेह मुक्त, स्थित होता है।

अब अष्ट साधनों का वर्णन किया जाता है--

(१) यम; (२) नियम; (३) आसन; (४) प्राणायाम; (५) प्रत्याहार; (६) धारणा; (७) ध्यान; (८) समाधि--ये आठ साधन मन को रोक कर समाधि में स्थित कराते हैं।

अथवा (१) पंच ज्ञानेन्द्रिय; (२) पंच कर्मेन्द्रिय; (३) पंच प्राण; (४) पंच भूत; (५) अंतः करण चतुष्टय; (६) काम्य; (७) कर्म; (८) वासना--ये सब मिल कर पुर्यष्टक होते हैं। इन आठ पुरियों को जीतने से भी मुक्ति हो जाती है।

ब्रह्मपुराण में कहा है—

पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बंधो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु।

सनन्दन ने भी कहा है—

भूतेन्द्रिय मनो बुद्धिः वासना कर्म वायवः।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टकमृषिसत्तमैः।

अर्थ स्पष्ट है।

अब नव साधन लिखते हैं—

(१) भगवान् के गुणानुवाद से पूर्ण भागवतादि सद्ग्रन्थों का सुनना, जैसे परीक्षित ने सुना।

(२) वासुदेव के 'ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय' आदि नाम का स्मरण करना, प्रह्लाद, ध्रुव की तरह।

(३) हरि-गुण का कीर्त्तन करना, नारद की तरह

(४) विष्णु के पाद-सेवन में लगना, लक्ष्मी की तरह।

(५) प्रभु का पूजन अर्चन करना, जैसे पृथु ने किया।

(६) प्रभु का वंदन करना।

(७) भगवान का दास होना, जैसे हनूमान्।

(८) गोविंद का सखा होना, अर्जुन की तरह।

(९) भगवान को सर्वस्व अर्पण करना, बलि की तरह।

यह नवधा भक्ति भी परमात्मा की प्राप्ति का अत्युत्तम साधन है।

इसी प्रकार (१) दश साधन; (२) एकादश साधन; (३) द्वादश; (४) त्रयोदश साधन; (५) चतुर्दश साधन; आदि हैं, जिनकी चर्चा यहां क्रमशः की जायगी।

(१) दशसाधन—

धृतिक्षमादमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकंधर्मलक्षणम्। मनु

(२) एकादशसाधन—

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्म्मेन्द्रिय तथा मन—इन एकादश को अपने वश में करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

(३) द्वादशसाधन—

श्री मद्भागवत के द्वादश स्कंधों का पारायण।

(४) त्रयोदश साधन—

निराशीर्यत चित्तात्मा त्यक्त सर्व परिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

अर्थात् शरीर निर्वाह मात्र के लिए रागद्वेष से रहित होकर तथा आत्मा में मन स्थिर कर के (१) देखना; (२) श्रवण करना; (३) स्पर्श करना; (४) सूँघना; (५) खाना; (६) चलना; (७) सोना (८) श्वास लेना; (९) बोलना; (१०) मलमूत्र त्याग करना; (११) कोई वस्तु पकड़ना; (१२) नेत्र खोलना; (१३) नेत्र बंद करना।

काम्य प्रायश्चित्तादि कर्म्म से विरत रह कर उक्त तेरह नैसर्गिक कर्म्म निरहंकार, द्वेष-रहित मन से साधक को करने चाहिये।

(५) चतुर्दश साधन—

भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्—ये सात लोक ऊपर तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल, ये सात लोक नीचे हैं। इन चतुर्दश लोकों का प्रेरक, संचालक, उत्पादक, अधिष्ठान, अन्तर्यामी, पालक, संहारक-इत्यादि सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही है, यह भी शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित है कि जीवात्मा और ब्रह्म दोनो एक ही हैं। अब जीवात्मा इस प्रकार विचार करे

कि जैसे ब्रह्म चतुर्दश लोकों का स्वामी है, वैसे ही मैं भी उनका स्वामी हूं और जब मैं उनका स्वामी हूँ तो सर्व पदार्थ मेरे ही हुए तो फिर मैं किसकी इच्छा करूँ और किसका त्याग करूँ। मुझे किसी का भय नहीं है, क्योंकि भय दूसरे से होता है; ब्रह्म और मैं एक हूँ ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है, जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उसका रूप ही हुआ करती है। जैसे मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है, अतएव घट मृत्तिका-स्वरूप ही है। और ब्रह्म मुझ जीवात्मा से अभिन्न है, इसलिए जगत् भी मेरा स्वरूप ही है, इस प्रकार अपने आत्मा का अभय रूप निश्चय करना ही मुक्ति है।

अब वेदान्त के पञ्चदश अङ्ग निरूपित किये जाते हैं:—

त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्यैन सिद्धये।
तैश्च सर्वैः सदा कार्यं निदिध्यासन मेवच।
नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत् सच्चिदात्मनः।
तस्माद्ब्रह्म निदिध्यासे जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्।
यमोहि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालकः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं स्वदृक् स्थितिः।
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्।

अर्थात् (१) यम; (२) नियम; (३) त्याग; (४) मौन; (५) देश; (६) काल, (७) आसन; (८) मूल; (९) बंध; (१०) देहसाम्य; (११) अपने नेत्र में अथवा अपने द्रष्टा में स्थिति; (१२) प्राणायाम; (१३)

प्रत्याहार; (१४) धारणा; (१५) आत्मध्यान; (१६) समाधि—ये अंग मुक्ति के साधन हैं।

(१) *सर्वंब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रिय ग्राम संयमः।*
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।

अर्थात् सर्व ब्रह्म है, ऐसा जान कर इन्द्रिय-समूह को वशीभूत करने का नाम यम है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए।

(२) *सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः।*
नियमोहि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः।

अर्थात् सजातीय प्रवाहरूप मैं ब्रह्म हूँ, इसके सतत प्रवाह नामरूपात्मक विजातीय जगत् का तिरस्कार करना ही परानन्द-रूप नियम है, जिसका सेवन बुद्धिमान् लोग नियम से करते हैं।

(३) *याग प्रपंच रूपस्य चिदात्मत्त्वाव लोकनात्।*
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो गतः।

अर्थात् चेतन आत्मा का साक्षात्कार करके प्रपंच का त्याग ही पुरुषों का पूज्य है, यह तुरन्त ही मोक्ष कर देता है।

(४) *यस्माद्वाचोनिवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।*
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेन्सर्वदा बुधैः॥
वाचो यस्मान्निवर्त्तन्ते तद्वक्तुं यन्न शक्यते।
प्रपंचो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्द विवर्जितः।
इति तावद्भवेन्मौनं सतां सहज संज्ञितम्।
गिरा मौनं हि बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः।

अर्थात् मन सहित वाणी जिस ब्रह्मको न पाकर लौट आती है वह मौन योगियों को प्राप्त होता है।

जिससे वाणी लौट आती है, उसी ब्रह्म को मौन कहते हैं, वह वाणी से नहीं कहा जाता। वाणी यदि प्रपंच को कहें तो वह भी अनिर्वचनीय होने के कारण वाणी का विषय नहीं है। वह सज्जनों का मौन है। वाणी का मौन तो मूर्खों का होता है।

ब्रह्मवादियों ने कहा है—

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्नविद्यते।

येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः।

अर्थात् जिस ब्रह्म में आदि, अंत तथा मध्य में जन नहीं है, जिस ब्रह्म से यह जगत निरन्तर व्याप्त है वह ब्रह्मरूप एकान्त देश है।

कलनात्सर्वभूतानाम् ब्रह्मादीनां निमेषतः।

कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखंडानंद निर्द्वयः।

अर्थात् वह द्वैतरहित अखंडानंद ब्रह्म ब्रह्मादि सर्वभूतों का निमेष से कलना करने वाला होने से काल शब्द से कहा जाता है।

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्म चिन्तनम्।

आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखमासनम्।

अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन हो, उसको आसन कहते हैं, इससे भिन्न को आसन नहीं कहते हैं।

सिद्धं यत्सर्व भूतादि विश्वाधिष्ठ न मव्ययम् ।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं भवेत् ।

अर्थात् जिससे सर्वभूत प्राणियों की सिद्धि होती है, जो विश्व का अधिष्ठान तथा अव्यय है, जिसमें प्रविष्ट होते हैं, वह ब्रह्म ही सिद्धासन है।

यन्मूलं सर्व लोकानां तन्मूले चित्त बंधनम् ।
मूल बन्धः सदासेव्यो योऽभ्यासो राजयोगिनाम् ।

अर्थात् सर्व लोकों का जो मूल है, उस मूल में चित्त-बंधन करना चाहिए। वह ब्रह्मरूप मूलबंध सर्वदा सेवने-योग्य है। वह अभ्यास योगियों का है।

अङ्गानाम् समता विद्यात् समे ब्रह्मणि लीनता ।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुतः शुष्क काष्ठवत् ।

अर्थात् सम ब्रह्म में अंगों की लीनता को समता जाने, यदि ऐसा न जाने तो सूखे काष्ठ के समान सीधा खड़े होने का नाम समता नहीं है।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्र विलोकिनी ।
द्रष्टु दर्शन दृष्टीनां विरामो यत्र वा भवेत्
दृष्टिस्तत्रैव कर्त्तव्या न नासाग्र विलोकिनी ।

अर्थात् ज्ञानमयी दृष्टि करके जगत को ब्रह्मरूप देखे, वही दृष्टि उत्तम है, नासिका के अग्रभाग को देखने का नाम दृष्टि

नहीं है। अथवा द्रष्टा, दर्शन तथा दृष्टि इन तीनों का जहां अंत हो उस ब्रह्म में ही दृष्टि करनी चाहिए, नासिका के अग्रभाग में नहीं।

चित्तादि सर्वभावानां ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।

अर्थात् चित्तादि सर्व पदार्थों की ब्रह्मभावना द्वारा सर्व वृत्तियों के निरोध को ही प्राणायाम कहते हैं।

निषेधन प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ।
ततः सवृत्ति नैश्चल्यं कुम्भकः प्राण सयमः ।
अयं चैव प्रबुद्धानामज्ञानां प्राण पीड़नम् ।

अर्थात् प्रपंच को हृदय से बाहर निकालने का नाम रेचक प्राणायाम; 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव को हृदय में प्रविष्ट करने का नाम पूरक प्राणायाम तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वृत्ति के निश्चल होने को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं; नासिका का पीड़न करना तो मूर्खों का प्राणायाम है।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिन्निमज्जनम् ।
प्रत्याहारः सविज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ।

अर्थात् विषयों को आत्मस्वरूप जानकर चैतन्य में मन के लीन होने का नाम प्रत्याहार जानना चाहिए। मुमुक्षुओं को इसका अभ्यास करना चाहिए।

यत्र तत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सपरामता ।

जहाँ जहाँ मन जाता है वहाँ वहाँ ब्रह्म का ही दर्शन होने से मन को उसी ब्रह्म में धारणा करे। इसी को धारणा कहते हैं।

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतयास्थितिः।
ध्यान शब्देन विख्याता परमानंददायिनी।

अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस सद्वृत्ति द्वारा निरालम्ब स्थिति ही ध्यान शब्द से विख्यात है। यही परमानन्द देनेवाली है।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्ति विस्मरणं सम्यक् समाधिज्ञान संज्ञितः।
एभिरङ्गै समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
किंचित् पक्व कषायाणां हठयोगेन संयुतः।

अर्थात निर्विकार रूप वृत्ति से अथवा ब्रह्मकार वृत्ति से सम्यक रूपेण वृत्ति का विस्मरण हो जाना ही समाधि कहा जाता है। इन पंचदश अंगों से युक्त राजयोग कहा है, कुछ पक्व कषाय वालों को हठयोग सहित कहा है।

अब षोड़श साधन का वर्णन ही शेष रह गया है, अतः उसी का कथन करके इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण तथा अंतःकरण इन षोड़श करणों के जीत लेने से तुरत मुक्ति* मिलती है।

---

*कठोपनिषद में कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानाति मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।

अर्थात् नेत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन स्थिर हो जाता है और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है। इसी को परम गति कहते हैं।

यद्यपि मंत्र योग, लययोग, हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, उपासना-योग आदि सम्बन्धी शास्त्रों में शास्त्रकारों ने मन के निरोध के लिए जो कुछ लिखा है, सब श्रेयस्कर है। इस ग्रन्थ में सब का मेल है और इसी कारण यह अधिक सुगम और सरल है, क्योंकि आटा, घी और शक्कर के मेल से बनने वाला हलवा अधिक स्वादिष्ट हो जाता है।

किसी भी काम को करिए, आरम्भ में वह कठिन और दुःसाध्य जान पड़ता है, किन्तु शनैः शनैः अभ्यास करने से वह सरल और सुगम हो जाता है। मन का निरोध भी इसी प्रकार क्रमशः सहज हो जायगा। इस कार्य में अवश्य लगना चाहिए, क्योंकि यही मनुष्य जन्म का फल है।

जीवों के मन में जब तक एक विषय में राग रहता है, तब तक दूसरे विषय का राग नहीं हो सकता, जैसे जिस बोतल में काग लगा हुआ है उसमें दूसरी कोई वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती। जब यह बात लोक-प्रसिद्ध विषयों के लिए लागू है तब अलौकिक मोक्ष के लिए तो और भी लागू है।

इस विषय में एक आख्यान लिखकर अब हम इस निबन्ध को समाप्त करेंगे।

किसी मनुष्य ने एक कुत्ता पाला था। उसे वह खूब खिलाता-पिलाता और दुलारता था। कुत्ता विष्ठा आदि खाता, हड्डी चबाता, किसी मनुष्य को या भेड़-बकरी आदि को काट कर हानि पहुँचाता तो भी वह उसे डाटता-फटकारता नहीं था।

एक दिन उस कुत्ते ने किसी अधिकारी राजपुरुष को काट खाया। राजकर्मचारी ने क्रोध के आवेश में आकर कुत्ते के स्वामी को बहुत मारा और कारागार में डाल दिया। तब कुत्ते के पालक को पश्चात्ताप हुआ कि मैंने कुत्ते पर पहले ही से डाट-डपट क्यों नहीं की। किन्तु—

तब पछिताये होत का
जब चिड़ियां चुग गयीं खेत।

कुत्ते के पालक और कुत्ते की कथा जीवात्मा और मन पर भी चरितार्थ होती है। मन को बहुत अधिक स्वच्छन्द छोड़ देने पर जीवात्मा को भी कुत्ते के पालक ही की तरह बंधन प्राप्त हो सकता है और पश्चात्ताप करने के लिए विवश होना पड़ सकता है।

कुत्ते के पालक की तरह भूल हम क्यों करें, उसकी तरह हम अपनी दुर्दशा क्यों करावें? क्यों न शीघ्र से शीघ्र अपने मन को वश में रखने का उपाय करें?

॥ समाप्त ॥